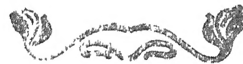
श्रीगोविन्द

श्री भर्तृहरि विरचितम्

नीति-शृङ्गार-वैराग्य

शतकत्रयम्



श्री पं० राजाराम पाठक द्वारा-

हिन्दी टीकोपेतम्

प्रकाशक—

ठाकुरप्रसाद एण्ड सन्स बुकसेलर

राजादरवाजा, ब्रांच—कचौड़ीगली,

वाराणसी।

मूल्य ५)६० पैसे

योगीन्द्र

श्री भर्तृहरि विरचितम्

नीति-शृङ्गार-वैराग्य शतकत्रयम्



श्री पं० राजाराम पाठक द्वारा-

हिन्दी टीकोपेतम्

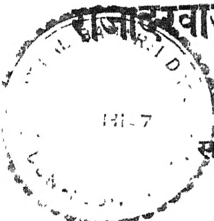


प्रकाशक—

ठाकुरप्रसाद एण्ड सन्स बुकसेलर,

राजादरवाजा, ब्रान्च-कचौड़ीगली,

वाराणसी।



[मूल्य १·२० पै०

प्रकाशक—

ठाकुरप्रसाद एण्ड सन्स

फोन नं० ४६५०

मुद्रक—

बम्बई प्रेस, वाराणसी ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

भर्तृहरिविरचितशतकत्रये

* नीतिशतकम् *

* मङ्गलाचरणम् *

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥ १ ॥

समस्त दिशाओं और तीनों कालोंमें व्याप्त, अविनाशी, ज्ञानमय मूर्तिवाले, अपना अनुभव ही जिनकी सत्ताका साक्षी है, ऐसे शान्त और तेजस्वरूप परब्रह्म परमात्माको नमस्कार है ॥१॥

* अथ आख्यायिका *

(एक समय किसी महर्षिने दर्शनार्थ आये हुए महाराज भर्तृहरिको प्रसन्न होकर आयु बढ़ानेवाला एक फल दिया, महाराजने उस फलको न खाकर प्राणोंसे भी अधिक प्रिय अपनी रानीको दिया, रानीने भी उस किलेकी रखवारी करनेवाले अपने प्रियतमको दिया, उसने भी उस फलके महत्त्वको समझकर उसे अपनी प्रिया किसी वेश्याको दिया, वेश्याने भी उस फलके महत्त्वको जानकर स्वयं नहीं खाया और यह समझकर कि यदि यह फल राजाको दिया जाय तो वह चिरकाल तक जीवित रहकर प्रजाका पालन पोषण कर सकेगा। इस सद्भावनासे उसने वह फल महाराज भर्तृहरिको दिया, भर्तृहरि उसका सारा वृत्तान्त जानकर विरक्त हो यों कहने लगे—)

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ।

अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥२॥

निरन्तर जिसकी मैं चिन्ता किया करता हूँ, वह मुझसे विरक्त रहकर अन्य पुरुषकी इच्छा करती है, वह अन्य पुरुष भी किसी दूसरी स्त्री पर आसक्त रहता है और हमारे लिये कोई अन्य ही स्त्री प्राण दे रही है, इसलिए अन्य पुरुष से प्रीति रखनेवाली अपनी स्त्रीको धिक्कार है, उस पुरुषको धिक्कार है जिसे वह चाहती है, इस अन्य स्त्रीको भी धिक्कार है, जो मुझको चाहती है, मुझको भी धिक्कार है, और उस कामदेवको भी धिक्कार है ॥२॥

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति ॥३॥

नासमझ सहजमें प्रसन्न किया जा सकता है। समझदार उससे भी सहजमें प्रसन्न किया जा सकता है। परन्तु जो न तो समझदार है न नासमझ—ऐसे श्रेणीके मनुष्यको ब्रह्मा भी सन्तुष्ट नहीं कर सकते ॥ ३ ॥

प्रसह्य मणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात्
समुद्रमपि सन्तरेत्प्रचलदूर्मिमालाकुलम् ।
भुजङ्गमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद् धारयेत्
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥४॥

भलेही मनुष्य बल द्वारा मगरके डाढ़ोंमें स्थित मणिको निकाल ले, भलेही ऊँची २ लहरोंवाले समुद्रको भी तैरकर पार

कर ले, भलेही क्रुद्ध सर्पको भी शिरपर पुष्पकी तरह धारण कर ले, पर मूर्खका मन जो कि किसी वस्तु पर जम गया है, उससे उसको हटाना कभी सम्भव नहीं। ४ ॥

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्
पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः।
कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादयेत्
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥५॥

संभव है कि यदि यत्न किया जाय तो बालूको भी पेरकर तेल निकाला जा सके, संभव है कि कदाचित् प्यासा भी मृगतृष्णा से अपनी प्यास बुझा सके, संभव है कि कदाचित् खरगोशका भी सींग ढूँढ़नेपर पाया जा सके परन्तु मूर्खका चित्त जिस वस्तु पर डट गया है, उससे उसका हटाना कदापि सम्भव नहीं ॥ ५ ॥

व्यालं बालमृणालतन्तुभिरसौ रोद्धुं समुज्जृम्भते
छेत्तुं वज्रमणीञ्छिरीषकुसुमप्रान्तेन सन्नह्यते।
माधुर्यं मधुबिन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधेरीहते
नेतुं वाञ्छति यः खलान्पथि सतां सूक्तैः सुधास्यन्दिभिः।

जो दुष्टोंको अपने अमृतमय सदुपदेशों द्वारा सन्मार्गमें ले जानेकी इच्छा करता है वह पुरुष कमलके कोमल डण्टलोंके तन्तुओंसे हाथीको बांधना चाहता है, हीरेको शिरीश (सरसों) के फूलकी पांखड़ीसे वेधना चाहता है और मधुके बूँदसे खारे समुद्र के जलको मीठा किया चाहता है ॥ ६ ॥

स्वायत्तमेकांतगुणं विधात्रा विनिर्मितंछादनमज्ञतायाः
विशेषतःसर्वविदांसमाजे विभूषणं मौनमपण्डितानाम्७

विधाताने जो मौन (चुप रहना) बनाया है इसमें अनेक गुण भरे हुए हैं, इसको किसीसे मांगना नहीं पड़ता यह मनुष्यके स्वाधीन रहनेवाली वस्तु है मनुष्य चाहे तो इसे अपना सकता है। यह मूर्खताका ढँकना (परदा डालने वाला) है, विशेषकर विद्वानोंकी सभामें मूर्खोंके लिये तो भूषण ही है ॥ ७ ॥

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित्किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतम्
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥८॥

जब मैं कुछ-कुछ ज्ञान रखने लगा तब मैं हाथीकी नाईं मदोन्मत्त होगया और मेरे चित्तमें यह गर्व हुआ कि, मैं सर्वज्ञ हूँ। परन्तु जब मैं विद्वानोंकी संगतिसे यथार्थमें कुछ-कुछ ज्ञान प्राप्त कर सका तब मेरा वह मद ज्वरके समान उतर गया और मुझको यह समझ पड़ा कि, मैं मूर्ख हूँ ॥ ८ ॥

कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितं
निरुपमरसं प्रीत्या खादन्नरास्थि निरामिषम्।
सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शङ्कते
न हि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम् ॥९॥

जब कीड़ोंसे भरे हुए लारसे भीगे, दुर्गन्धि, घृणाके योग्य, नीरस तथा मांसरहित मनुष्यकी हड्डीको कुत्ता प्रेमसे चबाता है,

और अपने बगलमें खड़े इन्द्रकी भी पर्वाह नहीं करता है। तो इससे मालूम होता है कि नीच पुरुष जिस पदार्थको अपना लेता है, फिर वह उसकी असारता पर ध्यान नहीं देता ॥ ९ ॥

शिरः शार्वं स्वर्गात्पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरं
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम्।
अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः॥१०॥

भगवती भागीरथी सर्व प्रथम स्वर्गसे शिवजीके मस्तक पर, फिर वहांसे हिमालय पर्वत पर, हिमालयसे पृथ्वी पर, पृथ्वी परसे समुद्रमें इस प्रकार नीचे नीचे ही गिरती गईं। इससे यह तात्पर्य निकला कि विवेकसे भ्रष्ट पुरुष भी इसी प्रकार सौ सौ तरह से अधोगतिको प्राप्त हाते हैं ॥ १० ॥

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो
नागेन्द्रो निशितांकुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभौ।
व्याधिर्भेषजसङ्ग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषं
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम्॥

अग्निका जलसे, धूपका छातेसे, उन्मत्त हाथीका नुकीले अंकुशसे, बैल तथा गदहेका दण्डेसे, व्याधिका अनेक प्रकारकी औषधियोंसे और विविध प्रकारके मन्त्र और तन्त्रोंके प्रयोगोंसे विषका निवारण हो सकता है। इस प्रकार सबकी औषधि शास्त्रमें कही है, परन्तु मूर्खताकी कोई औषधि नहीं है ॥ ११ ॥

साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः
तृणन्नखादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ॥

जो मनुष्य साहित्य और संगीतकी कलाको नहीं जानते वे बिना सींग और पूँछके साक्षात् पशु हैं। इस तरहके पशु जो घास न खाकर जीते रहते हैं, यह पशुओं का परम सौभाग्य है ॥१२॥

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥

जिन पुरुषों में विद्या, तप, दान, ज्ञान, सौजन्य गुण और धर्म इनमें से कुछ भी नहीं है। वे मृत्युलोकमें पृथ्वीके भारस्वरूप होकर मनुष्य रूपमें साक्षात् मृगकी तरह विचरते हैं ॥ १३ ॥

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह ।
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि ॥ १४ ॥

बीहड़ पहाड़ों पर जंगली आदमियोंके साथ विचरना अच्छा है, परन्तु मूर्ख पुरुषोंके साथ इन्द्रभवनमें भी रहना अच्छा नहीं ॥१४॥



अथ विद्वत्प्रशंसा

शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः शिष्यप्रदेयागमा
विख्याताः कवयो वसन्ति विषये यस्य प्रभोर्निर्धनाः ।
तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य सुधियस्त्वर्थं विनापीश्वराः
कुत्स्याःस्युःकुपरीक्षका हिमणयो यैरर्घतः पातिताः ॥

शास्त्रोंसे अलंकृत शब्दोंसे सुन्दर वाणीवाले और शिष्योंको उपदेश देने योग्य शास्त्रवाले सुप्रसिद्ध कवि जिस राजाके राज्यमें निर्धन होकर वास करते हों यह उसी राजाकी अयोग्यता है विद्वान् कवि तो धनके बिना भी सर्वत्र ही पूजे जाते हैं और सर्व समर्थ हुआ करते हैं। रत्नोंका मूल्य गिरानेवाला रत्नपारखीही निन्दाका पात्र समझा जाता है, रत्न नहीं ॥ १५ ॥

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति यत्सर्वदा
ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं पराम्।
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधन विद्याख्यमन्तर्धनम्
येषां तान्प्रति मानुमुज्झत नृपाः कस्तैः सह स्पर्धते १६

जिनके पास विद्यारूपी गुप्त धन है, जिसको चोर देख नहीं सकता और निरन्तर कल्याणकी वृद्धि करता रहता है, याचकों (शिष्यों) को सर्वदा देते रहने पर भी बढ़ता ही रहता है, जिसका महाप्रलयमें भी कभी नाश नहीं होता, हे राजा लोग इस प्रकारके उन महाकवियों के प्रति अभिमान करना छोड़ दो, उनके साथ कौन स्पर्धा कर सकता है ॥१६॥

अधिगतपरमार्थान्पण्डितान्मावमंस्था–
स्तृणमिव लघुलक्ष्मीर्नैव तान्संरुणद्धि ।
अभिनवमदलेखाश्यामगण्डस्थलानां
न भवति बिसतन्तुर्वारणं वारणानाम् ॥१७॥

हे राजन् ! तत्त्वज्ञानी पण्डितोंका अपमान मत करो। तृणके समान तुच्छ लक्ष्मी उनको वशमें नहीं कर सकती। कमलनाल का

तन्तु, ताजे मदकी लकीरसे मद बहते गण्डस्थल वाले हाथियोंको रोक नहीं सकता ॥ १७ ॥

अम्भोजिनीवनविहारविलासमेव
हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता ।
न त्वस्य दुग्ध-जलभेदविधौ प्रसिद्धां
वैदग्ध्यकीर्तिमपहर्तुमसौ समर्थः ॥१८॥

क्रुद्ध हुआ विधाता, हंसका कमलिनीके वनमें विहार करने रूप विलासको भले ही रोक दे, परन्तु दूध और जलको पृथक् करनेवाले इसके चातुर्यपूर्ण चमत्कारका कौन अपहरण कर सकता है ? ॥१८॥

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्द्धजाः
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् १९

पुरुषको, न तो विजायठ न चन्द्रमाकेसमान उज्ज्वल मोतियोंकी माला, न स्नान, न चन्दनादिका विलेपन, न सुगन्धित फूल और न भूषित केश अलंकृत करता है, किन्तु व्याकरणादिसे शुद्ध वाणी ही एक ऐसी रहा करती है, जो उसे अलंकृत किये रहती है। और अलंकार तो समय पाकर नष्ट भी हो जाते हैं परन्तु वाणीरूप भूषण यावज्जीवनका भूषण रहता है उसका कभी नाश नहीं होता ॥१९॥

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ।

विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः २०

विद्या ही मनुष्यका सौन्दर्य और गुप्त धन है। विद्या ही भोग, यश और सुखको देनेवाली है। विद्याही गुरुओंका भी गुरु है। परदेशमें विद्याही बन्धु है। विद्या परा देवता है विद्याही राजाओंमें पूजी जाती है धन नहीं, अतः विद्याहीन नर निरा पशु है ॥२०॥

क्षान्तिश्चेत्कवचेन किं किमरिभिः क्रोधोऽस्ति चेद्देहिनां
ज्ञातिश्चेदनलेन किं यदि सुहृद्दिव्यौषधैः किं फलम्।
किं सर्पैर्यदि दुर्जनाः किमु धनैर्विद्याऽनवद्या यदि
व्रीडा चेत्किमु भूषणैः सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् ॥

यदि क्षमा हो तो कवच की क्या जरूरत है ? यदि क्रोध है तो शत्रु का क्या प्रयोजन ? यदि जाति है तो अग्नि से क्या मतलब ? यदि सन्मित्र हैं तो उत्तम औषधियों से क्या काम ? यदि सहवासी दुर्जन हों तो सांपोंकी क्या आवश्यकता ?, यदि निर्दोष विद्या हो तो धन की क्या आवश्यकता ? ॥२१॥

दाक्षिण्यं स्वजने दया परिजने शाठ्यं सदा दुर्जने
प्रीतिः साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जने चार्जवम्।
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धृष्टता
ये चैवं पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोके स्थितिः॥

पुत्र कलत्र आदि अपने कुटुम्बियों पर उदारता, अपने आश्रितों पर दया, दुर्जनोंके साथ दुष्टता, साधुओंमें नीतिपूर्ण व्यवहार, विद्वानोंके साथ सरलता, शत्रुओंके साथ शूरता गुरुजनोंके साथ

सहनशीलता, स्त्रियोंके साथ धूर्तता आदि उक्त लौकिक कलाओं में जो लोग निपुण हैं, उन्हीं पर सारे संसारका दारमदार है।

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
सत्सङ्गतिः कथय किन्न करोति पसाम् ॥२३॥

बुद्धिकी मन्दताको हरती है, वाणीमें सत्यता लाती है, प्रतिष्ठा और अभ्युदयको कराती है, नीच कर्मसे पृथक करती है, चित्तको प्रसन्न करती है, और दसों दिशाओं में कीर्ति फैलाती है, कहो तो सही सज्जनोंकी संगति मनुष्यका क्या नहीं करती? ॥२३॥

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति तेषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥२४॥

नवों रसोंमें सिद्ध और पुण्यवान् वे महाकवि सर्वश्रेष्ठ हैं, जिनके यशरूपी शरीरमें न बुढ़ापेका भय है, न मृत्युका ॥२४॥

सूनुः सच्चरितः सती प्रियतमा स्वामी प्रसादोन्मुखः
स्निग्धं मित्रमवञ्चकः परिजनो निःक्लेशलेशं मनः।
आकारो रुचिरः स्थिरश्च विभवो विद्यावदातं मुखं
तुष्टे विष्टपहारिणीष्टदहरौ सम्प्राप्यते देहिनाम् ॥२५॥

संसारके कष्टोंको हरण करनेवाले भगवान्‌के प्रसन्न होनेपर ही सच्चरित पुत्र, पतिव्रता स्त्री, सदा प्रसन्न रहने वाला स्वामी, सहृदय मित्र, विश्वास पात्र सेवक, सतत निश्चिन्त चित्त, सुन्दर स्वरूप, स्थायी सम्पत्ति और विद्यासे चमकता चेहरा आदि प्राप्त होता है ॥२५॥

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम् ।
तृष्णास्रोतोविभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा
सामान्यं सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः २६

जीव हिंसासे पृथक् रहना, दूसरों के धन को हरण करनेसे अपने को बचाना, सत्य बोलना, अवसर आनेपर यथाशक्ति दान देना, पर-स्त्री कथामें मौन रहना, तृष्णाकी बढ़ती हुई गतिको रोकना, गुरुजनोंमें नम्र रहना, प्राणि मात्रमें दया रखना, आदिको ही सभी शास्त्रों ने कल्याणका एकमात्र निर्विरोध मार्ग बताया है ॥ २६ ॥

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनःपुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥२७॥

अधम श्रेणीके लोग विघ्नके भयसे कोई कार्य प्रारम्भ नहीं करते, मध्यम श्रेणी के लोग कार्य प्रारम्भ कर देते हैं, परन्तु विघ्न उपस्थित हो जाने पर उसे छोड़ देते हैं उत्तम श्रेणीके लोग कार्य प्रारंभ करनेके बाद विघ्नोंसे बारबार सताये जानेपर भी वे कार्यको बीचहीमें छोड़ते नहीं, उसे पूरा करके ही छोड़ते हैं ॥ २७ ॥

प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरं
त्वसन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः ।
विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥२८॥

सज्जनोंके लिये इस असिधारा व्रत (तलवारकी धारपर चलने की तरह अत्यन्त खतरनाक) का उपदेश किसने किया, जिसमें, सज्जनों और स्वल्प धनी मित्रोंसे कभी याचना नहींकी जाती न्याय संगत वृत्तिका ही आश्रय लेना पड़ता है, प्राण भलेही चला जाय पर निन्दनीय कर्म नहीं किया जाता, विपत्ति के समय भी उच्च विचारों की ही रक्षा की जाती है और बड़े लोगोंके ही मार्गका अनुसरण करना पड़ता है ॥ २८ ॥

इति विद्वत्प्रशंसा ।

अथ मानशौर्यप्रशंसा ।

क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि शिथिलप्रायोऽपिकष्टां दशा-
मापन्नोऽपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि ।
मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भपिशितग्रासैक बद्धस्पृहः
किंजीर्णं तृणमत्तिमानमहतामग्रेसरः केसरी ॥ २९ ॥

भूखके कारण अत्यन्त कृश भी, बुढ़ापे से दुर्बल भी, अङ्गोंसे शिथिल भी, कष्टमय दशाको प्राप्त होनेपर भी, निस्तेज होनेपर भी मदमत्त गजराजके चीरे हुये मस्तकका मांस खाने की इच्छा रखने वाला सिंह कभी सूखी घास खा सकता है ? ॥ २९ ॥

स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनं निर्मांसमप्यस्थिकं
श्वालब्ध्वा परितोषमेति न च तत्तस्य क्षुधाशान्तये ।
सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं
सर्वःकृच्छ्रगतोपि वाञ्छतिजनः सत्वानुरूपं फलम् ॥

कुत्ता कुछ २ नस, चर्बी आदि लगे हुए मांस रहित भी हड्डी को प्राप्त कर सन्तुष्ट होता है, परन्तु उससे उसकी क्षुधा शान्त नहीं होती। सिंह समीप आये हुए भी गीदड़को छोड़कर हाथीको ही मारता है। तात्पर्य यह निकला कि—सभी प्राणी कष्टावस्थामें रहने पर भी अपनी शक्तिके अनुसार ही फलकी इच्छा करता है ॥३०॥

लांगूलचालनमधश्चरणावपातं
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनञ्च ।
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुङ्गवस्तु
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भङ्क्ते ॥३१॥

कुत्ता खाना खिलानेवालेके आगे पूँछ हिला पैरोंपर गिर भूमि में लोटपोट कर मुँह और पेटको दिखा चापलूसी करता है, परन्तु हाथी, रोटी खिलानेवालेकी ओर केवल एकबार गंभीरतासे देखता है और बड़ी मान मनौती करनेके बाद भोजन करता है ॥३१॥

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ॥३२॥

इस परिवर्तनशील संसारमें कौन नहीं मरता और कौन नहीं जन्मता, परन्तु उसका जन्म लेना सफल है, जिससे कि वंशकी उन्नति हो ॥ ३२ ॥

कुसुमस्तवकस्येव द्वयी वृत्तिर्मनस्विनः ।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य विशीर्येत वनेऽथवा ॥३३॥

फूलोंके गुच्छेकी तरह अच्छे पुरुषोंकी दो ही गति हुआ करती है, या तो वह सब लोगोंके मस्तक पर ही रहता है या वह

जंगलमें मुरझाकर समाप्त हो जाता है ॥ ३३ ॥

सन्त्यन्येऽपि बृहस्पतिप्रभृतयः सम्भाविताः पञ्चषा-
स्तान्प्रत्येष विशेषविक्रमरुची राहुर्न वैरायते ।
द्वावेव ग्रसते दिनेश्वरनिशाप्राणेश्वरौ भास्वरौ
भ्रातः पर्वणि पश्य दानवपतिः शीर्षावशेषाकृतिः ॥

आकाशमें बृहस्पति प्रभृति तेजस्वी पांच छ ग्रह और भी हैं, पर पराक्रममें अभिरुचि रखनेवाला राहु उनसे वैर नहीं करता, मस्तकावशेष वह पूर्णिमा और अमावस्या के समय केवल देदीप्यमान सूर्य और चन्द्रमाको ही ग्रसा करता है ॥ ३४ ॥

वहति भुवनश्रेणिं शेषः फणाफलकस्थितां
कमठपतिना मध्येपृष्ठं सदा स विधार्यते ।
तमपि कुरुते क्रोडाधीनं पयोधिरनादरा-
दहह महतां निःसीमानश्चरित्रविभूतयः ॥ ३५ ॥

जिस शेषनागने अपने फन पर चौदहों भुवनोंको धारण किया है, उस शेषको भी कच्छपने अपने ऊपर धारण किया है। परन्तु समुद्रने उस कच्छपको भी अपनी गोदमें योंही रख लिया है। अहो! बड़े लोगोंके चरित्रकी महिमा अपरिमित हुआ करती है ।३५॥

वरं प्राणोच्छेदः समदमघवन्मुक्तकुलिश-
प्रहारैरुद्गच्छद्बहुलदहनोद्गारगुरुभिः ।
तुषाराद्रेः सूनोरहह पितरि क्लेशविवशे
न चासौ सम्पातः पयसि पयसां पत्युरुचितः ३६

ऊपर उठते हुए अत्यधिक अग्निकी ज्वालासे असह्य तथा मदमत्त इन्द्र द्वारा छोड़े हुए वज्रके प्रहारसे हिमालयके पुत्र मैनाक के पंखोंका कट जाना अच्छा था, किन्तु दुःख है कि पिताकी विपत्ति के समय में उन्हें छोड़कर समुद्रमें जा अपनी रक्षा करनी अच्छा नहीं है ॥ ३६ ॥

यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरिनकान्तः ।
तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतनिकृतिं कथं सहते ॥३७॥

जब अचेतन सूर्यकान्तमणि भी सूर्य किरणोंसे स्पृष्ट होनेपर ज्वाल उठता है तब सचेतन तेजस्वी पुरुष दूसरेके द्वारा किये गये अपमान को कैसे सह सकता है ॥ ३७ ॥

सिंहःशिशुरपिनिपततिमदमलिन कपोलभित्तिषु गजेषु
प्रकृतिरियं सत्ववतां न खलु वयस्तेजसां हेतुः॥३८॥

सिंह बच्चा भी हो तोभी मत्त गजपर आक्रमण करता ही है, ठीक ही है, यह शक्तिशालियोंका स्वभाव ही है, तेजस्वी होनेमें अवस्था कारण नहीं होती ॥ ३८ ॥

इति मानशौर्यप्रशंसा

अथ द्रव्यप्रशंसा ।

जातिर्यातु रसातलं गुण गणस्तत्राप्यधो गच्छतात्
शीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः संदह्यतां वह्निना ।
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु नः केवलं
येनैकेन विनागुणास्तृणलवप्रायाः समस्ताइमे ॥३९॥

जाति भलेही रसातलको चली जाय, गुणगण भी भलेही उससे

भी नीचे चले जांय, सदाचार पर्वतसे गिरकर भलेही चकनाचूर हो जाय, परिवारके लोग अग्निसे भलेही भस्म हो जायँ, शत्रुरूपी शूरता पर भलेही वज्र गिर जाय, इस तरह भलेही सर्वनाश हो जाय पर हमें तो केवल एक धनसे ही सम्बन्ध है वह हमारा सुरक्षित रह जाय, जिसके बिना सभी गुण तृणवत् हैं ॥ ३९ ॥

तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव ।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव
त्वन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥४०॥

वेही सब इन्द्रियां हैं, वही नाम है, अकुंठित वही बुद्धि है, पहले जैसी वही वाणी है, सब कुछ वही है, परन्तु पुरुष जब धन की गर्मीसे रहित हो जाता है तब वह क्षण मात्रमें औरका औरही हो जाता है ॥ ४० ॥

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान्गुणज्ञः ।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते ॥४१॥

जिसके पास धन है वही कुलीन है, वही पण्डित है, वही विद्वान और गुणी है, वही वक्ता और दर्शनीय है । तात्पर्य यह है कि सभी गुण सोने (धन) में रहा करते हैं ॥ ४१ ॥

दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात्सुतो लालनाद्
विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात् ।

ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रया
न्मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्त्यागात्प्रमादाद्धनम् ॥

दुर्मन्त्रीके सम्बन्धसे राजा, विषयासक्तिसे योगी, दुलारसे पुत्र, न पढ़नेसे ब्राह्मण, कुपुत्रसे कुल, दुष्टोंके सहवाससे सदाचार, मद्यपानसे लज्जा, रखवारी न करनेसे खेती, सतत बाहर रहनेसे प्रेम, स्नेहके न रहनेसे मित्रता, अनीतिसे ऐश्वर्य और दान तथा प्रमादीपनासे धन नष्ट हो जाता है ॥ ४२ ॥

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ४३

धनकी तीनही गति हुआ करती है दान, भोग और नाश । व्यक्ति न दान करता न भोगता है, उसके धनकी तीसरी गति हुआ करती है ॥ ४३ ॥

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिनिहतो
मदक्षीणो नागः शरदि सरितः श्यानपुलिनाः ।
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालवनिता
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः ॥ ४४ ॥

सान पर खरादा हुआ मणि, शस्त्रोंसे घायल समर विजेता, मद बहता हाथी, शरद् ऋतुकी कुछ-कुछ सूखे पुलिनवाली नदियां, कलाशेष चन्द्रमा, रतिक्रीडा में मर्दन की गई नवयौवना स्त्री और सत्कार्य में धन व्यय कर निर्धनी हुए मनुष्य ये सब कृशता से ही अच्छे लगते हैं । ४४ ।

परिक्षीणः कश्चित्स्पृहयति यवानां प्रसृतये
स पश्चात्सम्पूर्णो गणयति धरित्रीं तृणसमाम्
अतश्चानैकान्त्याद् गुरुलघुतयार्थेषु धनिना-
मवस्था वस्तूनि प्रथयति च सङ्कोचयति च ॥४५॥

कोई गरीब एक अंजुली भर जौं की इच्छा करता है, वही जब धन कनकसे परिपूर्ण हो जाता है तो उस समय पृथ्वीको तृणवत् समझता है । इसलिए जौं आदि पदार्थोंकी महत्ता अनिश्चित होनेके कारणधनिकोंकीअवस्थाहीउनकी छोटाई और बड़ाई बनाती है ४५॥

राजन्दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेतां
तेनाद्य वत्समिव लोकममुम्पुषाण ।
तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपुष्यमाणे
नानाफलं फलति कल्पलतेव भूमिः ॥४६॥

हे राजन् ! यदि आप इस पृथ्वीरूप गायको दुहना चाहते हो तो अपनी प्रजाका उसके बछड़ेकी तरह पालन करो । अच्छी तरह निरन्तर उसका पालन करने पर ही कल्पवृक्ष की तरह यह अनेक फल दिया करती है ॥ ४६ ॥

सत्याऽनृता च परुषा प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या ।
नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥४७॥

कभी सत्य, कभी मिथ्या, कभी कठोर, कभी मधुर वचन

बोलने वाली, कभी घातुक, कभी दयायुक्त, कभी स्वार्थ रत, कभी परोपकार रत, नित्य खर्च करने वाली और नित्य ही खूब धन पैदा करनेवाली राजनीति वेश्या की तरह हुआ करती है ॥ ४७ ॥

आज्ञा कीर्तिः पालनं ब्राह्मणानां
दानं भोगो मित्रसंरक्षणञ्च ।
येषामेते षड्गुणा न प्रवृत्ताः
कोऽर्थस्तेषां पार्थिवोपाश्रयेण ॥४८॥

हे राजन् ! जिनमें शासन की प्रभुता, यश प्राप्ति की इच्छा, ब्राह्मणों का पालन, दान देनेकी शक्ति, उपभोग, मित्र रक्षा आदि छ गुण नहीं हैं, ऐसे राजाओं की सेवा से क्या लाभ है ? ॥४८॥

यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं स्तोकं महद्वा धनं
तत्प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ ततो नाधिकम् ।
तद्धीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं वृथा मा कृथा
कूपेपश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम् ॥४९॥

विधाताने भाग्यमें थोड़ा या बहुत जितना धन लिखा है, उतना तो मरुभूमि में भी उसे मिलता ही है। सुवर्णमय मेरुपर्वत पर जाने पर भी उससे अधिक उसको नहीं मिल सकता, इसलिये अपने भाग्य पर ही सन्तोष करो। धनिकों के आगे दीन मत बनो। देखो, कूपमें अथवा समुद्रमें घड़ा डालो पर भी वह अपने में अटने भर ही पानी लेता है ॥४९॥

त्वमेव चातकाधारोऽसीति केषां न गोचरः ।
किमम्भोदवरास्माकं कार्पण्योक्तिं प्रतीक्षसे ॥५०॥

हे श्रेष्ठ मेघ ! आप हम पपीहोंके आधार हो यह किसे मालूम नहीं है। फिर क्यों आप हमारे दीन वचनोंकी प्रतीक्षा करते हो॥५०॥

रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयता-
मम्भोदा बहवो हि सन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः।
केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद् वृथा
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं ॥५१॥

हे पपीहे ! सावधान होकर थोड़ी देर मेरी बात सुनो। आकाशमें मेघ अनेक रहा करते हैं, परन्तु सभी उदार नहीं हुआ करते। उनमें से कोई ही वर्षासे पृथ्वी को हरा भरा करते हैं। इसलिये, जिसको जिसको देखा करो उसके-उसके आगे दीन वचन न बोला करो ॥५१॥

अकरुणत्वमकारणविग्रहः
परधने परयोषिति च स्पृहा।
सुजनबन्धुजनेष्वसहिष्णुता
प्रकृतिसिद्धमिदं हि दुरात्मनाम् ॥५२॥

निर्दयता, बिना कारण लड़ना, दूसरेके धन अथवा स्त्रीके पानेकी इच्छा करना, सज्जनों एवं अपने बन्धु बान्धवों के साथ ईर्ष्या (डाह) करना आदि लक्षण दुरात्माओंके स्वभावसिद्ध हुआ करते हैं ॥५२॥

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन्।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः ॥५३॥

दुर्जन विद्वान् हो तो भी उसको त्याग देना चाहिये। क्या मणिसे भूषित भी सर्प भयंकर नहीं होता ॥ ५३ ॥

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः शुचौ कैतवं
शूरे निर्घृणता मुनौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनि ।
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्तिः स्थिरे
तत्को नाम गुणो भवेत्स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाङ्कितः ५४

दुर्जन, लज्जाशील पुरुषोंमें जड़ता, व्रत करनेवालोंमें पाखण्डता, पवित्र चरित्रवालोंमें कपटीपना, वीरोंमें निर्दयीपना, मुनियोंमें बुद्धि-हीनता, मधुर भाषियोंमें दीनता, प्रभावशाली पुरुषोंमें घमण्डीपना, वक्ता (लेक्चरार) पुरुषोंमें बकवादीपना, गम्भीर पुरुषोंमें असमर्थता, आदि दोषों का होना कहा करते हैं । इस परिस्थितिमें गुणियोंका कौन ऐसा गुण है जिसमें दुर्जनों ने दोष न निकाला हो ॥५४॥

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम् ।
सौजन्यं यदि किं गुणैः सुमहिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः
सद्विद्यायदिकिं धनैरपयशो यद्यस्तिकिं मृत्युना ॥५५॥

यदि लोभ हो तो और किसी दुर्गुण की क्या आवश्यकता ?, यदि चुगुलपन है तो और पापोंका क्या प्रयोजन ?, यदि सत्यता है तो तपस्या से क्या मतलब ?, यदि मन पवित्र है तो तीर्थोंमें यात्रा करनेसे क्या लाभ ?, यदि सुजनता है तो और गुणोंकी क्या जरूरत ?, यदि यश हो तो अहंकारों की क्या आवश्यकता ?, यदि उत्तम विद्या है तो धनकी क्या पर्वाह ?, यदि अपयश है तो मृत्यु की क्यों खोज करना ।

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः ।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥५६॥

दिनका धूमिल चन्द्रमा, जवानी ढली स्त्री, कमल रहित सरोवर, सुन्दर पुरुषका मूर्ख होना, राजाका लोभी होना, सज्जनका सदा दुर्दशाग्रस्त होना और राजाके दर्बारमें दुष्ट पुरुषका पहुँचना आदि सात बातें मेरे मनमें कांटेकी तरह चुभ रही हैं ॥५६॥

न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयो नाम भूभुजाम् ।
होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः ॥५७॥

अति क्रोधी राजाओं का कोई भी अपना नहीं होता । जैसे छू जानेसे अग्नि हवन करनेवालोंको भी जलाती ही है ॥५७॥

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा
धृष्टः पार्श्वे पसति च सदा दूरतश्चाप्रगल्भः ।
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥५८॥

सेवक यदि मौन रहता है तो उसे गूँगा, बात करनेमें चतुर होता है तो बात रोगी (पागल) अथवा बकवादी, समीप रहने पर ढीठ, यदि दूर रहे तो नासमझ (कच्ची बुद्धिवाला), क्षमाशील हो तो उसे डरपोक, सहनशील न रहनेपर दुष्कुलीन कहा जाता है। तात्पर्य यह कि सेवाका धर्म अत्यन्त कठिन है, योगी पुरुष भी उसे ठीक समझ नहीं पाते ॥५८॥

उद्भासिताखिलखलस्य विशृङ्खलस्य
प्राग्जातविस्मृतनिजाधर्मकर्मवृत्तेः ।
दैवादवाप्तविभवस्य गुणद्विषोऽस्य
नीचस्य गोचरगतैः सुखमास्यते कैः ॥५९॥

नीच कर्मों द्वारा अपने वर्गके समस्त दुष्टोंको प्रकाशमें लानेवाले, इच्छानुसारी आचरण करनेवाले, पहले किये हुए बड़े-बड़े अपने नीच कर्मोंमें ही प्रवृत्ति रखनेवाले, यकायक सम्पत्ति पानेवाले, गुणोंसे द्वेष रखने वाले इस तरहके दुष्ट पुरुषके सामने आ जाने पर किन्होंने सुख पाया है ॥ ५९ ॥

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण
लघ्वीपुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्द्धभिन्ना छायेव
मैत्री खलसज्जनानाम् ॥ ६० ॥

दिनके पूर्वार्द्धमें जैसे छाया बृहदाकार रहा करती है और बादमें सूक्ष्माकार हो जाती है और उत्तरार्द्धमें जैसे पहले स्वल्पाकार रहती है और अनन्तर बृहदाकार हो जाती है, उसी तरह दुष्टों और सज्जनों की मित्रता हुआ करती है ॥ ६० ॥

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम् ।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणमेव वैरिणो जगति ६१

संसारमें बहेलिया, मल्लाह और दुष्ट घास, जल और सन्तोष से जीवन निर्वाह करने वाले मृग, मछली और सज्जनके अकारण ही शत्रु हुआ करते हैं ॥ ६१ ॥

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषि त रतिर्लोकापवादाद्भयम् ।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले
एते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः ६२

सज्जनोंकी मैत्रीकी इच्छा, पराये गुणोंमें प्रीति, गुरुमें नम्रता, विद्यामें अनुराग, स्त्रीमें प्रेम, लोकापवादसे डर, शंकरजीमें भक्ति, इन्द्रियोंको अपने वशमें रखनेकी शक्ति, दुष्टोंकी असंगति आदि गुण जिन मनुष्योंमें रहते हों उनको नमस्कार है ॥ ६२ ॥

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रसिद्ध मिदं हि महात्मनाम् ॥६३॥

विपत्तिमें धीरज, उन्नतिमें सन्तोष, सभामें चतुरता, युद्धमें धीरता, यशः प्राप्तिमें विशेष रुचि, वेदाध्ययनमें आसक्ति आदि गुण महात्माओंमें स्वभावसे ही रहा करते हैं ॥ ६३ ॥

प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते सम्भ्रमविधिः
प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः ।
अनुत्सेको लक्ष्म्यां निरभिभवसाराः परकथाः
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥६४॥

गुप्तदान, घर आये हुए का आदर करना, उपकार करके चुप रहना, दूसरों द्वारा किये गये उपकारको सभामें कहना, सम्पत्ति

रहते हुए गर्व न करना, दूसरोंके कथाप्रसंगमें उनके पराभव अथवा निन्दाका भाव न दिखाना आदि कठोर तलवारकी धारपर चलना रूप असिधारा व्रत सज्जनों को किसने कहा है ॥ ६४ ॥

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणयिता
मुखे सत्या वाणी विजयि भुजयोर्वीर्यमतुलम् ।
हृदि स्वच्छा वृत्तिः श्रुतमधिगतं च श्रवणयो-
र्विनाऽप्यैश्वर्ये प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम् ॥६५॥

हाथोंमें प्रशंसनीय दान, सिरपर गुरुओंके चरणोंमें प्रणाम करनेमें प्रेम, मुखमें सत्यता, भुजाओंमें अतुल बल, मनमें पवित्रता, कानोंमें शास्त्रोंका श्रवण आदि गुण बिना सम्पत्तिके भी महात्माओं में स्वाभाविक हुआ करते हैं, उनको लौकिक भूषणोंकी कोई आवश्यकता नहीं रहा करती ॥ ६५ ॥

सम्पत्सु महतां चित्तं भवेदुत्पलकोमलम् ।
आपत्सु च महाशैलशिलासङ्घातकर्कशम् ॥६६॥

महात्माओंका मन, सम्पत्ति प्राप्त होने पर कमलकी तरह कोमल अर्थात् अत्यन्त दयार्द्र हुआ करता है और विपत्तिके समय बड़े पर्वतकी चट्टानोंकी तरह अत्यन्त कठिन अर्थात् सहन करनेकी शक्ति वाला हुआ करता है ॥ ६६ ॥

सन्तप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि ना ज्ञायते
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते ।
स्वात्यां सागरशुक्तिमध्यपतितं तन्मौक्तिकं जायते
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संसर्गतो जायते ॥६७॥

तपते हुए लोहे पर गिरे हुए जलका नाम भी नहीं रह जाता, वही कमलिनीके पत्तोंपर गिरता है तो मोतीकी तरह शोभा पाता है और यदि वह स्वाती नक्षत्रमें समुद्रकी सीपियोंमें गिरता है तो मोती बन जाता है, इसलिये मालूम पड़ता है कि अधम, मध्यम तथा उत्तम गुण संसर्गसे ही हुआ करते हैं ॥ ६७ ॥

यः प्रीणयेत्सुचरितैः पितरं स पुत्रो
यद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम् ।
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं यद्
एतत्त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते ॥ ६८ ॥

जो अपने अच्छे आचरणों द्वारा पिताको प्रसन्न करता है, वही पुत्र है, जो अपने पतिका हित चाहा करती है वही स्त्री है, जो सुख और दुःख दोनोंमें एक-सा व्यवहार रखता है वही मित्र है, संसारमें ये तीन बातें पुण्यात्माओंको ही प्राप्त हुआ करती हैं ॥ ६८ ॥

एको देवः केशवो वा शिवो वा
एकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा ।
एको वासः पत्तने वा वने वा
एको नारी सुन्दरी वा दरी वा ॥ ६९ ॥

मनुष्यका आराध्यदेव एक ही होना चाहिये फिर चाहे वह केशव हो चाहे शिव, इसी तरह मित्र भी एक ही होना चाहिये चाहे वह राजा हो या फकड़ [साधु] हो, एक ही निवास स्थान भी रहे फिर चाहे वह नगर हो अथवा जंगल, स्त्री भी एक ही हो फिर चाहे वह सुन्दरी हो या गुफा हो ॥ ६९ ॥

नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणकथनैः स्वान्गुणान्ख्यापयन्तः
स्वार्थान्सम्पादयन्तो विततपृथुतरारम्भयत्नाः परार्थे ।
क्षान्त्यैवाक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखान्दुर्जनान्दूषयन्तः
सन्त साश्चर्यचर्या जगति बहुमताः कस्यनाभ्यर्चनीयाः

नम्र होकर ही ऊपर उठने वाले, दूसरोंके गुणोंके कथन द्वारा ही अपनी गुणवत्ता प्रगट करने वाले, दूसरोंके कार्यके लिए स्वयं सतत बहुत बड़ा परिश्रम करते हुए ही अपना कार्य सिद्ध करने वाले, निन्दासे रूखे अक्षरोंसे भरे मुखवाले दुर्जनोंको अपनी क्षमा द्वारा ही दूषित ठहरानेवाले, अनेकों द्वारा सम्मानित और आश्चर्य-कारक चरित्रवाले सत्पुरुष इस संसारमें किसके पूज्य नहीं? ॥७०॥

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमै-
र्नवाम्बुभिर्भूमिविलम्बिनो घना ।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥७१॥

वृक्ष फलोंसे लद जानेपर झुक जाते हैं, मेघ जलसे भरे रहनें पर लटक आते हैं, सत्पुरुष ऐश्वर्य प्राप्त होनेपर नम्र हो जाते हैं। यह झुकना अथवा नम्रहोना लोकोपकारियोंका स्वभाव ही है ।७१॥

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन ।
विभाति कायः करुणामयानां परोपकारैर्न तु चन्दनेन ।

कान शास्त्रोंके सुननेसे ही शोभित होता है कुण्डलसे नहीं, हाथकी शोभा दानसे है कंकणसे नहीं, दयाशील पुरुषोंका शरीर परोपकारसे शोभित होता है चन्दनसे नहीं ॥ ७२ ॥

पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यं निगूहति गुणान्प्रकटीकरोति ।
आपद्‌गतञ्च न जहाति ददाति काले
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥७३॥

पाप कर्मसे हटाता है, हित कार्यमें लगाता है, गुप्त विषयको छिपाता है, मित्रके गुणोंको प्रगट करता है, संकट आ जानेपर मित्रको छोड़ता नहीं, समय आ पड़ने पर सहायता करता है, इन सब लक्षणों द्वारा सन्मित्र जाना जाता है ॥ ७३ ॥

पद्माकरं दिनकरो विकचं करोति
चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम् ।
नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति
सन्तः स्वयं परहितेषु कृताभियोगाः ॥७४॥

सूर्य बिना प्रार्थनाके ही कमलोंको खिला देता है, चन्द्रमा कैरवोंको विकसित करता है, मेघभी बिना प्रार्थनाके ही जल बरसाया करता है, इससे सिद्ध होता है कि सत्पुरुष अपने-अपने से ही दूसरोंके हितमें लगे रहा करते हैं ॥ ७४ ॥

एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान्परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेनये ।
तेऽमी मानुषराक्षसः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये ।
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ७५

संसारमें एक वे सज्जन हैं जो अपने स्वार्थको छोड़कर एकमात्र

दूसरोंकी भलाईमें ही लगे रहा करते हैं, दूसरे साधारण श्रेणीके वे भी सत्पुरुष ही हैं जो अपने स्वार्थको बचाते हुए दूसरोंकी भलाई किया करते हैं और जो अपनी स्वार्थ सिद्धिके लिये दूसरोंके हितका नाश किया करते हैं वे मनुष्योंमें राक्षस हैं, परन्तु जो निरर्थक परहितका नाश करते हैं, वे कौन हैं मैं नहीं जानता ॥७५॥

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः
क्षीरोत्तापमवेक्ष्य तेनपयसा ह्यात्मा कृशानौ हुतः।
गन्तुं पावकमुन्मनास्तदभवद् दृष्ट्वा तु मित्रापदं
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी७६

दूधने मित्र पानीके मिल जाने पर सफेदी आदि अपने सभी गुण उसको दे दिये। पानीने भी दूधको जलता हुआ देखकर उसे बचानेके लिये अपने आपको जला दिया, इस प्रकार मित्रको आपत्ति में देखकर दूधने भी अग्निमें प्रवेश करना चाहा पर फिर बाहरसे मित्र पानीके छींटेको पाकर वह शान्त हो गया। अहो सज्जनोंकी मित्रता ऐसा ही हुआ करती है। ॥७६॥

इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषा-
मितश्च शरणार्थिनां शिखरिणां गणाः शेरते।
इतोऽपि बड़वानलः सह समस्तसंवर्तकै-
रहो विततमूर्जितं भरसहञ्च सिन्धोर्वपुः ॥७७॥

एक ओर भगवान् विष्णु सोते हैं तो दूसरी ओर उनके शत्रुओंका दल विराजमान है, एक तरफ अपनी रक्षा चाहने वाले पर्वतोंका समूह सो रहा है तो उसकी दूसरी ओर प्रलयकालिक समस्त अग्नियों

के साथ बड़वानल रह रहा है। अहो आश्चर्य है ? कि समुद्रका शरीर कितना बड़ा, बलवान और भार सहने वाला है ॥७७॥

तृष्णां छिन्धि भजक्षमां जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनम्।
मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रच्छादय स्वान्गुणान्
कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत्सतां लक्षणम्७८

लोभ त्यागो, क्षमाको अपनाओ, अहंकारका त्याग करो, पापमें मन न लगाओ, सत्य बोलो, सत्पुरुषोंके मार्गका अनुसरण करो, विद्वानों की सेवा करो, पूज्योंकी पूजा करो, शत्रुओंके साथ भी विनयका व्यवहार करो, नम्रताको प्रकट करो, कीर्तिकी रक्षा करो, दुःखियों पर दया करो, ये सब सज्जनों के लक्षण हैं ॥७८॥

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः७९

जिनका मन, बचन और शरीर पुण्यरूपी अमृतसे परिपूर्ण है, परोपकार द्वारा तीनों लोकको प्रसन्न करनेवाले हैं, दूसरोंके छोटेसे भी छोटे गुणको पर्वताकार मानकर आनन्दित होनेवाले हैं ऐसे सज्जन कितने हैं ? ॥७९॥

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा
यत्राश्रिताश्च तरवस्तरवस्त एव।

मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण
कङ्कोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनाः स्युः ॥८०॥

उस सुवर्ण पर्वत सुमेरु अथवा रजत पर्वत हिमांचलसे ही क्या लाभ ? जहांके पेड़-पेड़ही रह गये, हमतो उस मलयाचलको ही धन्य समझते हैं कि जिसके आश्रयमें रहनेवाले कंकोल (शीतल चीनी) नीम और कुरैया आदिके पेड़ भी चन्दन हो गये ॥८०॥

रत्नैर्महार्हैस्तुतुषुर्न देवा
न भेजिरे भीमविषेण भीतिम् ।
सुधां विना न प्रययुर्विरामं
न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः ॥८१॥

समुद्र मंथनके समय बहुमूल्य रत्नोंके प्राप्त होनेपर भी देवगण सन्तुष्ट नहीं हुए । भयंकर विषके मिलनेपर भी नहीं डरे और बिना अमृत पाये वे मन्थनरूप कार्यसे रुके नहीं ! ठीकही है, बुद्धिमान और धीर पुरुष अभीष्ट वस्तुको प्राप्त किये बिना प्रारब्ध कार्यको छोड़ते नहीं ॥ ८१ ॥

क्वचिद् भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनः ।
क्वचिच्छाकाहारः क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः ।
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुखं न च सुखम्॥८२॥

किसी कार्यकी सिद्धिमें लगा हुआ विद्वान् सुख और दुःखका परवाह नहीं किया करता कभी तो वह बिछौना न मिलनेपर भूमि

परही सो जाता है, कभी मिल जानेपर पलङ्गपर, कभी सागपात खाकरही पेट भर लिया करता है तो कभी साठीके धानका भात भी खा लेता है, कभी गुदड़ीही पहिनकर निर्वाह कर लेता है तो कभी दिव्य (अच्छे-अच्छे) वस्त्र भी धारण कर लेता है ॥८२॥

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः ।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम् ॥८३॥

सम्पत्ति सज्जनतासे, वीरता कम बोलनेसे, ज्ञान शान्तिसे, शास्त्र नम्रतासे, धन सद्व्ययसे, तपस्या अक्रोधसे, प्रभु क्षमासे, धर्म छल नहीं करनेसे शोभित होता है, परन्तु सभीका कारण स्वरूप सदाचार सभीका भूषण है ॥ ८३ ॥

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥८४॥

नीति निपुण विद्वान् निंदा करें अथवा स्तुति लक्ष्मी प्राप्त हो अथवा पासकी भी चली जाय, आजही मृत्यु हो अथवा एक युगके बाद, परन्तु गम्भीर पुरुष न्यायमार्गसे च्युत नहीं होते ॥८४॥

भग्नाशस्य करण्डपीडिततनोर्म्लानेन्द्रियस्य क्षुधा
कृत्वाऽऽखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः ।

तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा
लोकाःपश्यत दैवमेव हि नृणां वृद्धौक्षये कारणम् ८५

सज्जनों देखो, जिस पिटारीमें सांप बंद था अतएव भूखसे व्याकुल था, उस पिटारीमें रात्रिमें चूहेने बिल किया और उसमें जाकर वह भूखे उस सांपका आहार बन गया! वह सांप भी उसके मांससे तृप्त होकर उसी छिद्रके मार्गसे निकल भागा! इससे मालूम होता है कि प्राणियोंकी वृद्धि तथा क्षय होनेमें भाग्यही कारणहै।८५॥

पतितोऽपि कराघातैरुत्पतत्येव कन्दुकः।
प्रायेण साधुवृत्तानामस्थायिन्यो विपत्तयः ॥८६॥

हाथसे नीचे पटका हुआ भी गेंद ऊपर ही ऊपर उछलता रहता है। इससे मालूम पड़ता है कि सज्जनोंकी विपत्ति स्वल्पकाल तक ही रहा करती है ॥ ८६ ॥

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान्रिपुः।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुर्यं कृत्वा नावसीदति ॥८७॥

मनुष्योंके शरीरमें रहनेवाला आलस्य उसका सबसे बड़ा शत्रु है और पुरुषार्थके बराबर कोई मित्र भी नहीं है, जिसके करते रहने पर मनुष्य दुःख नहीं पाता ॥ ८७ ॥

छिन्नोऽपि रोहति तरुः क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः।
इति विमृशन्तः सन्तः संतप्यन्ते न ते विपदा ॥८८॥

कटा हुआ भी पेड़ पुनः उत्पन्न होता है और क्षीण भी चंद्रमा पुनः बढ़ने लगता है, इस प्रकारका समझते हुए सज्जन विपत्तिमें भी दुःखी नहीं होते हैं ॥ ८८ ।

नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः किल हरेरैरावतो वारणः ।
इत्यैश्वर्यबलान्वितोऽपि बलभिद्भग्नः परैः सङ्गरे
तद् व्यक्तं वरमेव दैवशरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम् ॥८९॥

साक्षात् बृहस्पति जिसके नेता हैं, वज्र जिसका अस्त्र है, देवगण जिसके सैनिक हैं, स्वर्ग जिसका किला है, ऐरावत जिसका हाथी है, इस तरह सर्वविध ऐश्वर्य तथा बलसे सम्पन्न भी इन्द्र जब युद्धमें शत्रुओं से हार गया तो इससे यही प्रतीत होता है कि दैव ही रक्षक ठीक है, निरर्थक पौरुषको अनेक बार धिक्कार है ॥८९॥

कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी ।
तथापि सुधिया कार्यं कर्तव्यं सुविचारतः ॥९०॥

मनुष्योंका सुख-दुःख उनके पूर्वकृत कर्मके अधीन है और बुद्धि भी कर्मके अनुसार ही कार्य किया करती है । फिर भी बुद्धिमान्को समझ बूझ कर ही कार्य करना चाहिये ॥ ९० ॥

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणैः सन्तापिते मस्तके
वाञ्छन्देशमनातपं विधिवशात्तालस्य मूलं गतः ।
तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्नं सशब्दं शिरः
प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः ॥९१

टाल [जिसके सिरपर बाल नहीं] पड़ा हुआ आदमी सूर्यके किरणों से बचनेके लिये छाया युक्त स्थानको खोजता हुआ ताड़के पेड़के नीचे आया, वहां भी एक बड़े फलके गिरनेसे आवाजके साथ

उसका सिर फट गया । ठीकही है भाग्यहीन पुरुष जहां-जहां जाता है, वहीं-वहीं विपत्तियां भी पहुंचती हैं ॥ ९१ ॥

शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं
गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम् ।
मतिमताञ्चविलोक्यदरिद्रतां
विधिरहोबलवानितिमेमतिः ॥९२॥

सूर्य चन्द्रमाका राहु द्वारा ग्रसा जाना, हाथी और सांपका बांधा जाना और विद्वानोंकी दरिद्रता आदिको देखकर मैं यही समझता हूँ कि भाग्यही बलवान् है ॥ ९२ ॥

सृजति तावदशेषगुणाकरं
पुरुषरत्नमलङ्करणं भुवः ।
तदपि तत्क्षणभङ्गि करोति
चेदहह कष्टमपण्डितता विधेः ॥९३॥

ब्रह्माकी कितनी बड़ी मूर्खता है कि वह गुणोंके समस्त आकार और पृथ्वीके भूषण स्वरूप जिस पुरुष रत्नको उत्पन्न करता है उसीको थोड़ी देरमें नष्ट होनेवाला बना देता है ॥९३॥

पत्रं नैव यदा करीर विटपे दोषो वसन्तस्य किं
नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् ।
धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणं
यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः ९४

यदि करील वृक्षमें पत्ते न लगें तो इसमें वसन्तऋतुका क्या दोष ?— यदि दिनमें उल्लूको न दिखाई दे तो इसमें सूर्यका क्या दोष ?—वर्षाऋतुमें यदि चातकके मुँहमें जलधारा न गिरे तो मेघ का क्या दोष ?—इन बातोंके देखनेसे मालूम पड़ता है कि विधाताने ललाटमें पहलेसे जो लिख रखा है, उसको कोई मिटा नहीं सकता ॥ ९४ ॥

इति दैवप्रशंसा ।

अथ कर्मप्रशंसा ।

नमस्यामो देवान्ननु हतविधेस्तेऽपि वशगा
विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः ।
फलं कर्मायत्तं किममरगणैः किञ्च विधिना
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ॥९५॥

हमलोग देवताओंको नमस्कार करते हैं, पर वे भी दुष्ट विधि के ही अधीन हैं, इसलिये यदि हम विधाताको नमस्कार करते हैं तो वह विधाता भी स्वतन्त्रतया हमको फल देनेमें समर्थ नहीं है, कर्मके अनुसारही फल देता है, इसलिये जब फल कर्मके ही अनुसार मिलता है तब हमें क्या मतलब देवताओंसे और क्या मतलब विधातासे, उस कर्मको ही क्यों न नमस्कार करें, जिसपर विधाताका भी कोई वश नहीं चलता ॥ ९५ ॥

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासंकटे ।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥९६॥

जिसने ब्रह्माण्डरूपी बर्तनके भीतर ब्रह्माको कुम्हारकी तरह नियुक्त किया, विष्णुको दशावतार ग्रहण करने रूप महाविपत्तिमें डाल दिया, जिसने महादेवको भी हाथमें खप्पर लेकर भीख मांगनेके लिए बाध्य किया और जिसके कारण सूर्यको भी आकाश में नित्य भ्रमण करना पड़ा उस कर्मको ही नमस्कार है ॥९६॥

नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलं
विद्याऽपि नैव न च यत्नकृतापि सेवा ।
भाग्यानि पूर्वतपसा खलु सञ्चितानि
काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः ॥९७॥

मनुष्यको फल देनेवाली न तो उसकी सुन्दर आकृति है, न उसका ऊँचा कुल है, न सत्स्वभाव है, न विद्या है, न परिश्रमपूर्वक की गई स्वामि सेवाही है, किन्तु पूर्वजन्ममें किये गये तपसे सञ्चित भाग्यही समय आजाने पर वृक्षकी तरह फल दिया करता है ॥९७॥

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये
महार्णवे पर्वतमस्तके वा ।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा
रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ॥९८॥

पूर्वजन्ममें किया हुआ पुण्यही, पुरुषकी बनमें, रणमें, शत्रुओंसे घिर जानेपर, जलमें, अग्निमें, महासमुद्रमें, पर्वतकी चोटीपर, सुप्तावस्थामें, असावधानीमें और सङ्कटकाल आ जाने पर रक्षा किया करता है ॥ ९८ ॥

या साधूंश्च खलान्करोति विदुषो मूर्खान्हितान्द्वेषिणः
प्रत्यक्षंकुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात् ।
तामाराधय सत्क्रियां भगवतीं भोक्तुं फलं वाञ्छितं
हे साधो व्यसनैर्गुणेषु विपुलेष्वास्थां वृथा मा कृथाः ९९

हे महापुरुष ! वांछित फलप्राप्तिके लिए, जो दुष्टोंको सज्जन, मूर्खोंको विद्वान्, शत्रुओंको मित्र, आंखोंकी ओटमें स्थित वस्तुको आंखोंके सामने और विषको तत्काल अमृत बना सकती है, उस एकमात्र सत्क्रिया (सत्कर्म) रूपी भगवतीकी आराधना करो। नाना प्रकारके दुःखोंसे व्याप्त अनेक गुणोंमें व्यर्थ श्रद्धा न करो ॥९९॥

गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेर्भवति
हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥१००॥

विद्वान्को उचित है कि भला या बुरा कर्म करनेके पहले ही उसके परिणामको अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। बिना विचार किये जल्दीबाजीमें किये कर्मका फल मरण पर्यन्त हृदयको जलाने वाला होता है और कांटेकी तरह चुभा करता है ॥१००॥

स्थाल्यां वैदूर्यमय्यांपचतितिलकणांश्चान्दनैरिन्धनाद्यैः
सौवर्णैर्लाङ्गलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कमूलस्य हेतोः ।
छित्वाकर्पूरखण्डान्वृतिमिहकुरुतेकोद्रवाणां समन्तात्
प्राप्येमां कर्मभूमिं चरति न मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः॥

जो अभागा मनुष्य इस कर्मभूमि संसारमें जन्म लेकर तप नहीं करता है, वह मरकत (पन्ना) रत्नसे बने हुए पात्रमें चन्दनकी लकड़ीसे तिलके दानोंको पकाता है, आकके पेड़की जड़का पता लगानेके लिये सोनेके हलसे पृथ्वीको जोतता है और कपूरके टुकड़ों को तोड़-जोड़कर कोदोंके खेतमें चारों ओर डांड़ बनाता है ॥१०१॥

मज्जत्वम्भसि यातु मेरुशिखरं शत्रुञ्जयत्वाहवे
वाणिज्यं कृषिसेवनादिसकला विद्याःकलाः शिक्षतु।
आकाशं विपुलं प्रयातु खगवत्कृत्वा प्रयत्नं परं
नाभाव्यं भवतीह कर्मवशतो भाव्यस्य नाशः कुतः१०२

मनुष्य चाहे जलमें गोता लगाता रहे, चाहे सुमेरु पर्वतकी चोटीपर चढ़कर बैठे,युद्धमें भलेही शत्रुओंको जीतले,वाणिज्य,कृषि, सेवा इत्यादि समस्त कलाओंमें भलेही निपुण होजाय, काफी प्रयत्न कर पक्षियोंकी तरह आकाशमें उड़ते रहनेकी कला भीप्राप्त करले, फिर भी संसारमें जो बात अनहोनी है वह हो नहीं सकती और जो होनी है वह बिना हुए टल नहीं सकती ॥ १०२ ॥

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं
सर्वो जनः सुजनतामुपयाति तस्य ।

कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा

यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य ॥१०३॥

जिस मनुष्यने पूर्व जन्ममें अत्यधिक पुण्य किया है, उसके लिये भयङ्कर वन भी राजधानी बन जाता है, समस्त लोग सज्जन हो जाते हैं, सारी पृथ्वी खजानों और रत्नोंसे भरीपूरी हो जाती है ॥१०३॥

इति कर्मप्रशंसा ।

अथ प्रत्यन्तर श्लोक ।

को लाभो गुणिसङ्गमः किमसुखं प्राज्ञेतरैः सङ्गतिः

का हानिः समयच्युतिर्निपुणता का धर्मतत्त्वे रतिः ।

कः शूरो विजितेन्द्रियः प्रियतमा काऽनुव्रता किं धनं

विद्या किं सुखमप्रवासगमनं राज्यं किमाज्ञाफलम् १०४

इस संसारमें जन्म लेनेका लाभ क्या है?—गुणियोंका संग, दुःख क्या है?—मूर्खोंका संग, हानि क्या है?—समयको व्यर्थ बिताना, निपुणता क्या है?—धर्ममें अनुरक्ति, शूर कौन है?—जिसने इन्द्रियोंको जीत लिया है, प्रियतमा कौन है?—पतिव्रता, धन क्या है?—विद्या, सुख क्या है?—प्रवास न करना, राज्य क्या है?—आज्ञाका उल्लङ्घन न होना ॥ १०४ ॥

मालतीकुसुमस्येव द्वे गती स्तो मनस्विनः ।

मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीर्यते वन एव वा ॥१०५॥

मालतीके फूलोंकी तरह विद्वान् मनुष्योंकी दोही गतियां हुआ करती हैं—या तो वे सबोंके सिरताज होकर रहा करते हैं या तो बनमें ही तपके द्वारा अपने शरीरका त्याग कर देते हैं ॥१०५॥

अप्रियवचनदरिद्रैः प्रियवचनाढ्यैः स्वदारपरितुष्टैः ।
परपरिवादनिवृत्तैः क्वचित्क्वचिन्मण्डिता वसुधा १०६

पृथ्वी कहीं-कहीं ऐसे ही योग्य पुरुषोंसे सुशोभित होती है जो अप्रिय बचन बोलते नहीं, सदा प्रिय वचन बोला करते हैं, अपनी ही विवाहिता स्त्रीसे सदा सन्तुष्ट रहा करते हैं और दूसरोंकी निन्दासे सदा दूर रहा करते हैं ॥ १०६ ॥

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणा-
न्मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते ।
व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति १०७

समस्त लोकका अत्यन्त प्रिय शील जिसके शरीर में विद्यमान है उसके लिये अग्नि जलके समान है, समुद्र छोटी नदीके समान है, सुमेरु पर्वत साधारण पत्थरकी चट्टानके समान है, सिंह मृगके समान है, सर्प फूलोंकी मालाके समान है और विषरस भी बरसते हुए अमृतके समान है ॥ १०७ ॥

लज्जागुणौघजननीं जननीमिव स्वा-
मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमानाम् ।

तेजस्विनः सुखमसूनपि सत्यजन्ति
सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥१०८॥

सत्यव्रतकी रक्षा करनेवाले तेजस्वी पुरुष अपने प्राणोंको भी हँसते-हँसते त्याग देते हैं, परन्तु लज्जा आदि गुणोंको उत्पन्न करनेवाली अपनी माताके समान शुद्ध हृदयवाली और सदा स्वाधीन रहनेवाली अपनी प्रतिज्ञाको नहीं छोड़ते ॥ १०८ ।

इति श्री मद्भर्तृहरिशतके भाषाविरचित भाषाटीका-
संवलितं नीतिशतकं समाप्तम् ।

—०—

* अथ शृङ्गारशतकम् *



* मङ्गलाचरणम् *

शम्भुस्वयम्भुहरयो हरिणेक्षणानां
येनाक्रियन्त सततं गृहकर्मदासाः ।
वाचामगोचरचरित्रविचित्रिताय
तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय ॥१॥

विचित्र चरित्र होनेके कारण जिनका वाणीसे वर्णन नहीं किया जा सकता और जिन्होंने ब्रह्मा-विष्णु और महादेवको भी मृगोंके नेत्रोंके समान सुन्दर नेत्रवाली सरस्वती, लक्ष्मी और पार्वतीके गृहकर्म करनेके लिये दास बना रक्खा है, हम उन भगवान् कामदेवको नमस्कार करते हैं ॥ १ ॥

स्मितेन भावेन च लज्जया भिया
पराङ्मुखैरर्द्धकटाक्षवीक्षणैः ।
वचोभिरीर्ष्याकलहेन लीलया
समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियः ।२॥

स्त्रियां, अपनी मन्द मुसुकानसे, कामके विकारको प्रकट करनेवाले अपने भावसे, लज्जासे, लोक भयसे, मुँह फेर लेनेसे, आधे कटाक्ष [कनखी] द्वारा देखनेसे, मधुर भाषणसे, ईर्ष्या, कलह और काम-कला इत्यादि समस्त भावोंसे पुरुषको बन्धन स्वरूप करती हैं ॥ २ ॥

भ्रूचातुर्यात्कुञ्चिताक्षाः कटाक्षाः
स्निग्धा वाचो लज्जितान्ताश्च हासाः ।
लीलामन्दं प्रस्थितञ्च स्थितञ्च
स्त्रीणामेतद् भूषणं चायुधञ्च ॥३॥

भौंहोंके फेरनेकी चतुराईसे पूर्ण आंखोंका मारना, मधुर भाषण करना, मुस्कुराहटके साथ लज्जाके भावको दिखाना, इठलाते हुए रुक-रुककर चलना आदि स्त्रियोंके भूषण हैं और ये ही बातें उनके शस्त्र भी हैं ॥ ३ ॥

क्वचित्सभ्रूभङ्गैः क्वचिदपि च लज्जापरिणतैः
क्वचिद्भीतित्रस्तैः क्वचिदपि च लीलाविलसितैः ।
नवोढानामेभिर्वदनकमलैर्नेत्रचलितैः
स्फुरन्नीलाब्जानां प्रकरपरिपूर्णा इव दिशः ॥४॥

कहीं-कहीं नवतरुणी सुन्दरियोंके मनोहर भौंहोंकी तिरछी मारसे, कहीं-कहीं अत्यधिक भयभीत होनेसे, कहीं-कहीं लीला विलासों आदि कामके आविर्भावको सूचित करनेवाले भावोंसे तथा

सुन्दर रमणियोंके नेत्र व्यापारसे सारी दिशाएँ खिले हुए नील-कमलोंके समूहोंसे व्याप्तकी तरह दिखायी देती हैं ॥ ४ ॥

वक्त्रं चन्द्रविकासि पङ्कजपरीहासक्षमे लोचने
वर्णः स्वर्णमपाकरिष्णुरलिनीजिष्णुः कचानाञ्चयः ।
वक्षोजाविभकुम्भसंभ्रमहरौ गुर्वी नितम्बस्थली ।
वाचां हारि च मार्दवं युवतिषु स्वाभाविकं मण्डनम् ५

चंद्रमाके समान खिलनेवाला मुख,कमलको लजानेवाले नेत्र, सुवर्णके समान कान्तियुत शरीर, भ्रमरियोंकोभी जीतनेवाले काले काले केश, हाथी के कुम्भस्थलकी शोभाको हरानेवाले स्तन, स्थूल नितम्बस्थल, मनको हरण करनेवाली वाणीकी मधुरता आदि सारी बातें तरुणी सुन्दरियोंके अकृत्रिम भूषण हैं ॥ ५ ॥

स्मितं किञ्चिद्वक्त्रे सरलतरलो दृष्टिविभवः
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोक्तिसरसः ।
गतानामारम्भः किसलयितलीलापरिकरः
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिह न हि रम्यं मृगदृशः ॥६॥

मुखपर मन्द मुसकान, स्वाभाविक चाञ्चल्यपूर्ण अवलोकन, बातचीतमें प्रति क्षण नई नई विलासपूर्ण सरल उक्तियाँ,लीलाकी समृद्धिसे गतिके विलासको पल्लवित करना, आदि बातें जवानीकी सीमापर पैर रखनेवाली सुन्दरीके प्रत्येक अंगोंमें अपने आपही फड़कने लगती हैं । तारुण्यके आरम्भमें स्त्रियोंका कौन ऐसा अंग है, जिसमें लोकोत्तर सौन्दर्यका आविर्भाव नहीं होता ॥ ६ ॥

द्रष्टव्येषु किमुत्तमं मृगदृशां प्रेमप्रसन्नं मुखं
घ्रातव्येष्वपि किं तदास्यपवनः श्राव्येषु किं तद्वचः ।
किं स्वाद्येषु तदोष्ठपल्लवरसः स्पृश्येषु किं तत्तनु-
र्ध्येयं किं नवयौवनं सहृदयैः सर्वत्र तद्विभ्रमः ॥७॥

इस असार-संसारमें सहृदय रसिकोंके लिये देखने योग्य वस्तु कौन है—प्रियाका प्रेमसे प्रसन्न मुख, सूंघे जानेवाले पदार्थोंमें उत्तम पदार्थ कौन है ? प्रियाके मुखका श्वास, सुनने योग्य वचनों में सर्वोत्तम सुनना क्या है ?—प्रियाका कोमल और मधुर भाषण, स्वादिष्ट पदार्थोंमें उत्तम पदार्थ क्या है ?—प्रियाका अधरामृत, स्पर्श करने योग्य पदार्थों में उत्तम पदार्थ क्या है ?—कुसुम सुकुमार प्रियाका शरीर और ध्यान करने योग्य वस्तुओंमें सर्वश्रेष्ठ ध्येय क्या है ? —प्रियतमाका नवतारुण्य और उसके हाव-भावादि विलास ॥ ७ ॥

एताः स्खलद्वलयसंहतिमेखलोत्थ-
झङ्कारनूपुरपराजितराजहंस्यः ।
कुर्वन्ति कस्य न मनो विवशं तरुण्यो
वित्रस्तमुग्धहरिणीसदृशैः कटाक्षैः ॥८॥

जिन सुन्दरियोंने अपने कङ्कणों और करधनीमें लगे घुंघुरुओं के शब्दसे तथा पैजनीके मधुर झङ्कारसे राजहंसियोंके कलनाद और मन्दगतिको जीत लिया है, ऐसी सुन्दरी नवयुवतियां भयसे चकित हरिणीके नेत्रके समान चञ्चल कटाक्ष बाणोंसे किसके मनको विवश नहीं करतीं ॥ ८ ॥

कुंकुमपङ्ककलङ्कितदेहा गौरपयोधरकम्पितहारा ।
नूपुरहंसरणत्पदपद्माकं नवशीकुरुते भुवि रामा ॥९॥

जिसका शरीर केशरके उबटनसे सुन्दर बना हुआ है, जिसके गुलाबी स्तनोंपर मोतीका हार झूल रहा है; जिसके चरण कमल में नूपुररूपी हंस शब्द कर रहे हैं, ऐसी लोकोत्तर सुन्दरी किसको अपने वश में नहीं कर लेती है ? ॥ ९ ॥

नूनं हि ते कविवरा विपरीतबोधा
ये नित्यमाहुरबला इति कामिनीनाम् ।
याभिर्विलोलतरतारकदृष्टिपातैः
शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबलाः कथंताः ॥१०॥

इसमें कोई संशय नहीं कि वे कविश्रेष्ठ उलटी बुद्धि के हैं जो लोकप्रसिद्ध सुन्दरियोंको अबला [बलरहिता] कहा करते हैं, क्योंकि जिन्होंने अपनी चञ्चल पुतलियोंवाली आंखोंकी मारसे इन्द्रादिकोंको भी जीत लिया फिर भला वे अबला कैसे कही जा सकती हैं ॥१०॥

नूनमाज्ञाकरस्तस्याः सुभ्रुवो मकरध्वजः ।
यतस्तन्नेत्रसञ्चारसूचितेषु प्रवर्तते ॥ ११ ॥

यह बिलकुल सत्य है कि भगवान् कामदेव सुन्दर भौहों वाली इन्हीं तरुणियोंका आज्ञा-पालक दास है । क्योंकि ये जिसकी ओर अपनी आंखें फेरती हैं, कामदेव भी उसी ओर अपना व्यापार शुरू कर देता है ॥ ११ ॥

केशाः संयमिनः श्रुतेरपि परं पारं गते लोचने
अन्तर्वक्त्रमपि स्वभावशुचिभिः कीर्णं द्विजानां गणैः ।

शनैश्चराभ्यां धीरे-धीरे चलनेवाले पैरोंसे इस तरह गुरु, चन्द्र और शनैश्चर इन तीनों ग्रहोंके धर्म उसमें रहने के कारण वह ग्रहस्वरूप ही मालूम पड़ती है ॥१७॥

तस्याः स्तनौ यदि घनौ जघनञ्च हारि
वक्त्रं च चारु तव चित्त किमाकुलत्वम् ।
पुण्यं कुरुष्व यदि तेषु तवास्ति वाञ्छा
पुण्यैर्विना न हि भवन्ति समीहितार्थाः ॥१८॥

हे चित्त ! उस सुन्दरी के स्तन यदि कड़े हैं, नितम्ब भाग यदि मनोहर है, मुख यदि सुन्दर है तो तूँ क्यों व्याकुल हो रहा है। तेरी यदि इनको प्राप्त करने की इच्छा हो तो पुण्य कर, बिना पुण्य किये मनोरथ सिद्ध नहीं हुआ करते ॥१८॥

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्य-
मार्याः समर्यादमिदं वदन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणा-
मुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥ १९ ॥

हे महाशयों ! ईर्ष्या रहित होकर और कर्तव्यका अच्छी प्रकार निश्चय कर इस बातको कहें कि पहाड़ोंके नितम्ब (मध्यभाग) और मदोन्मत्त नायिकाके नितम्ब इनमें किसका आश्रय लेना श्रेयस्कर है ?

संसारेऽस्मिन्नसारे परिणतितरले द्वे गती पण्डितानां
तत्वज्ञानामृताम्भःप्लवललितधियांयातु कालः कदाचित्

नोचेन्मुग्धाङ्गनानां स्तन जघनभराभोगसंभोगिनीनां
स्थूलोपस्थस्थलीषु स्थगितकरतलस्पर्शलीलोद्यतानाम्

परिवर्तनशील इस असार संसारमें पण्डितों की दो ही गतियां हैं या तो तत्वज्ञानरूपी अमृतसरके क्रीड़ा सरोवरमें स्नान करते हुए समय बितावें अथवा स्तन-मर्दन पूर्वक सघन-जघन के विस्तारमें संभोग चाहनेवाली नवयौवना सुन्दरी रमणियों की मदन मन्दिर की पुष्ट भूमि पर हाथ रख स्पर्श सुखका अनुभव करते हुए अपने समयको बितावें ॥२०॥

समोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति ।
एताः प्रविश्य सदयं हृदयं नाराणां
किं नाम वामनयना न समाचरन्ति ॥२१॥

नव युवतियां, पुरुषोंके सदय हृदयमें घुसकर क्या-क्या नहीं कर गुजरती हैं ? सर्व प्रथम तो ये पुरुषोंका सामना होते ही उन्हें अपने मोहजालमें फांस लेती हैं, उनको पागल बना देती हैं स्वयं उनका अनुकरण करने लग जाती हैं, झिड़कारती हैं, काम-क्रीडा करने लगती हैं और उनके चले जाने पर दुःखका अभिनय करने लगती हैं ॥२१॥

विश्रम्य विश्रम्य वनद्रुमाणां
छायासु तन्वी विचचार काचित् ।
स्तनोत्तरीयेण करोद्धृतेन
निवारयन्ती शशिनो मयूखाम् ॥ २२ ॥

कोई नव युवती, जंगलों पेड़ों की सघन छायामें विश्रामकर और हाथसे उठाए हुए अपने स्तनोंपरके वस्त्र द्वारा चन्द्रमाके किरणों के संतापसे अपने आपको बचाती हुई भ्रमण कर रही है ॥२२॥

अदर्शने दर्शनमात्रकामा दृष्ट्वा परिष्वङ्गरसैकलोला ।
आलिङ्गितायाःपुनरायताक्ष्याआशास्महेविग्रहयोरभेदम्

जबतक हम अपनी प्रियतमाको देख नहीं पाते तब तक उसे देखनेकी ही इच्छा हुआ करती है, देख लेने पर फिर उसके आलिंगन करनेकी इच्छा होती है। आलिंगन कर लेने पर फिर यह इच्छा होती है कि हम दोनों इसी तरह बराबर लिपटे पड़े रहें, हममें विलगाव न हो ॥२३॥

मालती शिरसि जृम्भणोन्मुखी
चन्दनं वपुषि कुंकुमान्वितम् ।
वक्षसि प्रियतमा मनोहरा
स्वर्ग एष परिशिष्ट आगमः ॥२४॥

खिलनेवाली मालतीकी माला गलेमें पड़ी हो, केसर मिश्रित चंदन का उबटन शरीरमें लगा हुआ हो और प्राणप्यारी सुन्दरी छाती से लिपटी रहे तो समझना चाहिये कि असली स्वर्ग यही है स्वर्गको कहनेवाला शास्त्र गौण है ॥२४॥

प्राङ्मा मेति मनागनागतरसं जाताभिलाषं ततः
सव्रीडं तदनु श्लथोद्यतमनुप्रध्वस्तधैर्यं पुनः ।
प्रेमार्द्रं स्पृहणीयनिर्भररहःक्रीडाप्रगल्भं ततो
निःशङ्काङ्गविकर्षणादिकसुखं रम्यं कुलस्त्रीरतम् ॥२५॥

कुलीन स्त्रियां रसोत्पत्ति न होनेके कारण पहले नाहीं-नाहीं ऐसा कहती हैं इसके बाद कामकी इच्छा होने पर लज्जित होने लगती हैं, इसके बाद शरीरके भागोंको जँभाई आदिके द्वारा ढीला करने लगती हैं, इसके उपरान्त उनके धीरजका बांध टूटने लगता है और वे पुरुषके अनुकूल हो जाती हैं एवं प्रेम रससे भींगी हुई एकान्त काम केलि में अङ्ग प्रत्यंगोंके आकर्षण और मर्दन द्वारा परमानन्दको देनेवाला संभोग सुख दिया करती हैं ॥२५॥

उरसि निपतितानां स्त्रस्तधम्मिल्लकानां
मुकुलितनयनानां किञ्चिदुन्मीलितानाम् ।
सुरतजनितस्वेदस्विन्नगण्डस्थलीना-
मधरमधु वधूनां भाग्यवन्तः पिवन्ति ॥२६॥

जिनकी छातियोंपर अपने शरीरको लिटा दिया हो, जिनके केशपाश रतिश्रमसे बिखरे हुए हों; रतिका आनन्द चरमसीमाको प्राप्त हो जानेपर आंखें बन्द हो गई हों और बीच-बीचमें कुछ-कुछ खुलती भी रहें, इस तरह की पुरुषायित रतिके परिश्रमसे उत्पन्न पसीनेसे आर्द्र कपोल स्थलवाली सुन्दरियों का अधरामृत विरले ही भाग्यवान पान करते हैं ॥२६॥

आमीलितनयनानां यः सुरतरसोऽनुसंविदं कुरुते ।
मिथुनैर्मिथोऽवधरितमवितथमिदमेवकामनिर्वहणम्२७

काम जन्य आनन्दसे जिनकी आंखें कुछ बन्द हो रही हैं ऐसे तरुण और तरुणियोंको अनुभवमें आनेवाला रतिका आस्वाद ही यथार्थमें काम पुरुषार्थका स्वरूप है ॥२७॥

इदमनुचितमक्रमश्च पुंसां
यदिह जरास्वपि मान्यथा विकाराः ।
तदपि च न कृतं नितम्बिनीनां
स्तन पतनावधि जीवितं रतं वा ॥२८॥

पुरुषोंमें कामकी वासनाकी सीमा न बांधकर तथा स्त्रियोंमें स्तन ढुलकने तक उनके जीवन अथवा रतिकी मर्यादा निश्चित न कर ब्रह्माने अनुचित किया जिससे वृद्धावस्थामें भी कामके विकार उत्पन्न होते हैं और स्तन लटक जानेपर भी रति की इच्छा हुआ करती है ॥२८॥

एतत्कामफलं लोके यद् द्वयोरेकचित्तता ।
अन्यचित्तकृते कामं शवयोरिव सङ्गमः ॥२९॥

रतिके समय स्त्री और पुरुषोंकी एकचित्तता ही कामोपासना का मुख्य फल है । यदि उस समय एकके चित्त में कामवासना हो और दूसरे के चित्तमें न हो तो ऐसों का संगम मृतक के समान है ॥२९॥

आवासः क्रियतां गाङ्गे पापवारिणि वारिणि ।
स्तनमध्ये तरुण्या वा मनोहारिणि हारिणि ॥३०॥

या तो पाप नाशक जलवाले गंगा तटपर निवास करे अथवा मनोहर हारवाले तरुणी स्त्रीके वक्षस्थल पर ॥३०॥

मधुरयं मधुरैरपि कोकिला
कलकलैर्मलयस्य च वायुभिः ।

विरहिणः प्रणिहन्ति शरीरिणो
विपदि हन्त सुधापि विषायते ॥३१॥

प्राणिमात्रको आनन्द देनेवाला बसन्त मास, अत्यन्त सुखावह और मलयाचलकी वायुसे मनोहर कोकिलाके कलरव द्वारा विरहियोंको मारता रहता है, ठीक ही है, विपत्तिकालमें अमृत भी विषका काम करता है ॥ ३१ ॥

सहकारकुसुमकेसरनिकरभरामोदमूर्च्छितदिगन्ते ।
मधुरमधुविधुरमधुपे मधौ भवेत्कस्य नोत्कण्ठ ॥३२॥

आमकी नई मंजरियोंके सुगन्धसे व्याप्त और मधुर मकरन्दके पानसे उन्मत्त भ्रमरवाले वसन्त मासमें किसको संभोगकी इच्छा नहीं होती ॥ ३२ ॥

स्रजो हृद्यामोदा व्यजनपवनश्चन्द्रकिरणाः
परागः कासारो मलयजरजः शीधु विशदम् ।
शुचिः सौधोत्सङ्गः प्रतनु वसनं पङ्कजदृशो
निदाघे तूर्णं तत्सुखमुपलभन्ते सुकृतिनः ॥३३॥

मनोहर गन्धवाली फूलकी मालाएँ, पंखेकी हवा, चन्द्रमाके किरण, पुष्प पराग, क्रीड़ा सरोवर, चन्दन धूलि, मद्य, विहार योग्य प्रासादकी अट्टालिकाएँ, अत्यन्त बारीक वस्त्र और कमलके समान नेत्रवाली सुन्दरियां आदि संभोग सामग्री पुण्यात्माओंको हीप्राप्त होती हैं ॥ ३३ ॥

सुधाशुभ्रं धाम स्फुरदमलरश्मिः शशधरः
प्रियावक्त्राम्भोजं मलयजरजश्चातिसुरभि ।

स्रजो हृद्यामोदास्तदिदमखिलं रागिणि जने
करोत्यन्तः क्षोभं न तु विषयसंसर्गविमुखे ३४

चूनेकी सफेदीसे धवल भवन, निर्मल चन्द्रमा, प्रियाका मुखकमल, सुगन्धित चन्दनकी धूलि, फूलोंका हार ये सब बातें विषयानुरागियोंको ही अत्यन्त आनन्ददायक हैं, विषयसे पराङ्-मुखजनोंका नहीं ॥ ३४ ॥

तरुणी चैषा दीपितकामा विकसज्जातीपुष्पसुगन्धिः ।
उन्नतपीनपयोधरभारा प्रावृट् कुरुते कस्य न हर्षम् ३५

कामवासनाको उत्पन्न करनेवाली खिले हुए जाती (जाई) के फूलोंसे सुगन्धित, उभड़े और पुष्ट पयोधर (मेघ) वाली सुन्दरी और नवयुवती के समान वर्षा ऋतु किसको आनन्द नहीं देती। स्त्री पक्षमें पयोधर (स्तन) ॥ ३५ ॥

वियदुपचितमेघं भूमयः कन्दलिन्यो
नवकुटजकदम्बामोदिनो गन्धवाहाः ।
शिखिकुलकलकेकारावरम्या वनान्ताः
सुखिनमसुखिनं वा सर्वमुत्कण्ठयन्ति ३६

मेघाच्छन्न आकाश, नवीन अंकुरोंवाली भूमि, नये खिले हुए जंगली मालती और कदम्बके फूलोंसे सुगन्धित वायु, मयूरोंकी मधुरवाणीसे सुन्दर वन प्रदेश आदि सुखी अथवा दुःखी सभी जनोंकी संभोग विषयक उत्कण्ठाको बढ़ाते हैं ॥ ३६ ॥

उपरि घनं घनपटलं तिर्यग्गिरयोऽपि नर्तितमयूराः ।
वसुधा कन्दलधवला दृष्ट्वा पथिकः क यातु संत्रस्तः ३७

मस्तक पर मेघोंकी घनघोर घटा छाई है, चारों ओर मयूर नाच रहे हैं, भूमि भी नाना प्रकारके अंकुरोंसे स्वच्छ है, इस तरह कामोद्दीपक पदार्थोंके सर्वत्र व्याप्त रहनेपर विरही विचारा पथिक कहां जाय।

इतोविद्युद्वल्लीविलसितमितः केतकितरोः
स्फुरद्गन्धः प्रोद्यज्जलदनिनदस्फूर्जितमितः।
इतः केकीक्रीडाकलकलरवः पक्ष्मलदृशां
कथं यास्यन्त्येते विरहदिवसाः सम्भृतरसाः ३८

कहीं बिजलियोंकी चमक दमक, तो कहीं केवड़ेकी सुगन्धि, कहीं मेघोंकी गर्जना तो कहीं मयूरोंकी क्रीड़ाका कलरव भला बताइये ऐसे कामोन्मादक समयमें विरहिणी स्त्रियोंके दिन कैसे व्यतीत हो सकेंगे ?

असूचीसञ्चारे तमसि नभसि प्रौढजलद
ध्वनिप्राये तस्मिन् पतति दृषदा नीरनिचये।
इदं सौदामिन्याः कनककमनीयं विलसितं
मुदं च ग्लानिं च प्रथयति पथिष्वेव सुदृशाम् ३९

घनघोर अँधियारी छा जाने पर, मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके होते रहने पर, पानी बरसते हुएमें सुवर्णके समान सुन्दर बिजलीकी चमक अभिसारिका (व्यभिचारिणी) स्त्रियोंको मार्ग दिखाई देनेके कारण आनन्द और अपने आप प्रगट हो जानेके कारण दुःख देती है ॥ ३९ ॥

आसारेण न हर्म्यतः प्रियतमैर्यातुं बहिः शक्यते
शीतोत्कम्पनिमित्तमायतदृशा गाढं समालिङ्ग्यते ।
जाताः शीतलशीकराश्च मरुतो रत्यन्तखेदच्छिदो
धान्यानां बत दुर्दिनं सुदिनतां याति प्रियासङ्गमे ४०

जिन दिनोंमें धूँआधार वृष्टिके कारण प्रियतम घरके बाहर नहीं निकल पाते, स्त्रियां जाड़ेकी अधिकतासे अपने अपने प्रियतमोंका आलिंगन किये रहती हैं, ठंढी २ हवा रति-श्रम दूर किया करती है, ऐसे दुर्दिन भी प्रियतमाके साथ रहनेपर जिनके लिए सुदिन होते हैं, वे पुरुष धन्य हैं ॥ ४० ॥

अर्द्धं नीत्वा निशायाः सरभससुरतायासखिन्नश्लथाङ्गः
प्रोद्भूतासह्यतृष्णो मधुमदनिरतो हर्म्यपृष्ठे विविक्ते ।
सम्भोगाक्लान्तकान्ताशिथिलभुजलतावर्जितं कर्करातो
ज्योत्स्नाभिन्नाच्छधारं नपिबतिसलिलशारदं मन्दभाग्यः

आधी रात बीतनेपर उत्सुकता पूर्वक किये हुए संभोगसे शिथिल शरीरवाला, अत्यन्त प्यासा, शराबके नशेमें चूर जो व्यक्ति संभोग श्रमसे थकी हुई प्रियतमा द्वारा दिये गये चन्द्रकिरणके समान निर्मल सुराहीके जलको शरद् ऋतुमें पान करता है वह बड़ा पुण्यात्मा समझा जाता है ॥ ४१ ॥

हेमन्ते दधिदुग्धसर्पिरशना मञ्जिष्ठवासोभृतः
काश्मीरद्रवसान्द्रदिग्धवपुषः खिन्ना विचित्रैः रतैः ।
पीनोरःस्थलकामिनीकनकृताश्लेषा गृहाभ्यन्तरे
ताम्बूलीदलपूगपूरितमुखा धन्याः सुखं शेरते ।४२।

हेमन्त ऋतु में दही, दूध और घीको खानेवाले, रंगे हुए कपड़ोंको धारण करनेवाले, शरीरमें केशरका उबटन लगाने वाले, विविध प्रकारकी रतिक्रीड़ासे थके हुए, उमड़ी छातीवाली कामिनियोंसे आलिंगन किये गये और पान खानेमें तत्पर वे लोग धन्य हैं जो बन्द कमरे में निःशंक होकर सोते रहते हैं ॥ ४२॥

चुम्बन्तो गण्डभित्तारलकवतिमुखे सीत्कृतान्यादधानाः
वक्षःसूत्कञ्चुकेषु स्तनभरपुलकोद्भेदमापादयन्तः ।
ऊरूनाकम्पयन्तः पृथुजघनतटात्स्रंसयन्तोऽंशुकानि
व्यक्तं कान्ताजनानां विटचरितकृतः शैशिरा वान्ति वाताः

कामिनियोंके कपोलोंका चुम्बन करना, घुँघुराले केशोंसे अलंकृत मुखमें सीत्कारको उत्पन्न करना, चोलीसे वक्षःस्थलके कसे रहने पर भी स्तनों पर रोमाञ्च भावको पैदा करना, जंघाओंमें गुदगुद द्वारा कम्पन पैदा करना, विशाल जंघा प्रदेशसे पहिने हुए वस्त्रकी ग्रंथिको ढीला करना आदि समस्त लंपटी मनुष्योंके चरित को करनेवाली जाड़के मौसिमकी हवा बह रही है ॥ ४३ ॥

केशानाकुलयन्दृशो मुकुलयन्वासो बलादाक्षिप-
न्नातन्वन्पुलकोद्गमं प्रकटयन्नुद्वेगकम्पं गतौ ।
वारं वारमुदारसीत्कृतवशाद्दन्तच्छदान्पीडयन्
प्रायःशैशिर एष सम्प्रति मरुत्कान्तासु कान्तायते ४४

बालोंको उड़ाती हुई, आंखोंको बन्द करती हुई, पहिनी हुई साड़ीको बलपूर्वक उड़ाती हुई, रोमाञ्चको उत्पन्न करती हुई, शरीरमें धीरे-धीरे कम्पको पैदा करती हुई मनोहर सीत्कारको

करनेवाले अधरोष्ठोंको ठंडसे पीड़ा देनेवाली जाड़ेके मौसिमकी हवा कामिनियोंमें कामीकी तरह आचरण करती है ॥ ४३ ॥

असाराः सन्त्येते विरतिविरसायासविषया
जुगुप्सन्तां यद्वा ननु सकलदोषास्पदमिति ।
तथाप्यन्तस्तत्त्वे प्रणिहितधियामप्यतिबलः
स्तदीयाऽनाख्येयः स्फुरति हृदयेकोऽपि महिमा ४५

प्रसिद्ध सभी सांसारिक विषय निःसार हैं और पापके कारण हैं एवं समस्त दोषोंके मूल हैं इसलिए परम सुख लाभकी इच्छा से उनका परित्यागही करना चाहिये। फिर भी किसी विषयमें पुण्य है तो वह परहितही में है, और इस संसारमें यदि कोई रम्य वस्तु है तो वह कमलके समान नेत्रवाली सुन्दरी ही है ॥ ४५ ॥

भवन्तो वेदान्तप्रणिहितधियामाप्तगुरवो
विदग्धालापानां वयमपि कवीनामनुचराः ।
तथाप्येतद्भूमौ नहि परहितात्पुण्यमाधिकं
न चास्मिन्संसारे कुवलयदृशस्त्वन्यमपरम् ॥४६॥

मैं यह जानता हूँ कि आप बड़े-बड़े वेदांतियोंके भी गुरु हैं, पर हम भी मधुर रचनावाले कवियोंके अनुचर हैं, फिर भी इस भूमिपर परोपकारसे अधिक कोई पुण्य नहीं है और कमल नयनी से बढ़कर कोई दूसरी वस्तु सुन्दर नहीं है ॥ ४६ ॥

किमिह बहुभिरुक्तैर्युक्तिशून्यैः प्रलापै-
र्द्वयमिह पुरुषाणां सर्वदा सेवनीयम् ।

अभिनवमदलीलालालसं सुन्दरीणां
स्तनभरपरिखिन्नं यौवनं वा वनं वा ॥४७॥

अब इस विषयमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। पुरुषोंके लिये दो ही वस्तु सर्वदा सेवनीय है। जवानीके मदसे तथा पुष्ट स्तनोंके भारसे रमणीय प्रियतमाका यौवन अथवा वन ॥४७॥

सत्यं जना वच्मि न पक्षपाता-
ल्लोकेषु सर्वेषु च तथ्यमेतत्।
नान्यन्मनोहारि नितम्बिनीभ्यो
दुःखैकहेतुर्न च कश्चिदन्यः ॥४८॥

सज्जनों! मैं पक्षपातसे नहीं, अपितु सत्य कहता हूँ और सभी लोकोंमें यही सत्य है भी, कि सांसारिक समस्त सुखोंके मूल कामिनियोंको छोड़कर संसारमें न तो कोई दूसरी वस्तु सुखदायक है और समस्त झगड़ोंकी मूल उनको छोड़कर न तो दूसरी वस्तु दुःखदायक ही है ॥ ४८ ॥

तावदेव कृतिनामपि स्फुरत्येष निर्मलविवेकदीपकः।
यावदेव न कुरंगचक्षुषां ताड्यते चपललोचनाञ्चलै ४९

तभीतक तत्त्वज्ञानियोंका तत्वज्ञान प्रकाशित रहता है जब तक कि मृगनयनियोंके चञ्चल नेत्रके अंचलकी हवा उनको नहीं लगती ॥ ४९ ॥

वचसि भवति सङ्गत्यागमुद्दिश्य वार्ता
श्रुतिमुखरमुखानां केवलं पण्डितानाम्।

जघनमरुणरत्नग्रन्थिकाञ्चीकलापं

कुवलयनयनानां को विहातुं समर्थः ॥५०॥

"स्त्री संग नहीं करना चाहिये" यह बात वेदाध्ययन करने वाले विद्वानोंकी केवल कहने ही के लिए हैं, पद्मराग मणि से खचित करधनी वाली सुन्दरीको कौन छोड़ सकता है ? ॥ ५० ॥

स्वपरप्रतारकोऽसौ निन्दति योऽलीकपण्डितो युवतीः ।

यस्मात्तपसोऽपि फलं स्वर्गस्तस्यापि फलं तथाप्सरसः ॥५१॥

जो स्त्रियोंकी निन्दा करता है वह झूठ बोलनेमें पण्डित है और दूसरोंको ठगनेवाला है, क्योंकि जिस तपका फल स्वर्ग है, उस स्वर्गमें भी उर्वशी प्रभृति अप्सराओंका सम्बन्ध होताहा हैं ॥५१॥

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः

केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः ।

किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य

कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥ ५२ ॥

कुछ वीर मदमत्त गजराजको मारनेमें सिद्धहस्त हैं तो कुछ सिंहको मारनेमें परन्तु मैं दृढ़तापूर्वक यह कह सकता हूँ कि कामदेव के घमण्डको खण्डित करनेवाला वीर शायद ही कोई होगा ।५२।

सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां

लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव ।

भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथगता नीलपक्ष्माण एते

यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाःपतन्ति।।

मनुष्य तभी तक सन्मार्गमें अपने आपको रख सकता है, इन्द्रियोंको भी तभी तक वशमें रख सकता है, लज्जा और नम्रता भी उसकी तभी तक रह सकती है जब तक वह धैर्यको चुराने वाले कामिनियोंके नेत्ररूपी बाणोंसे आहत नहीं होता ॥ ५३ ।

उन्मत्तप्रेमसंरम्भादारभन्ते यदङ्गना ।
तत्र प्रत्यूहमाधतुं ब्रह्मापि खलु कातरः ॥५४॥

स्त्रियां प्रेममें उन्मत्त होकर जिस कामको करने लग जाती हैं, ब्रह्मा भी उन्हें उस कामसे हटा नहीं सकता ॥ ५४ ॥

तावन्महत्वं पाण्डित्यं कुलीनत्वं विवेकिता ।
यावज्ज्वलति नाङ्गेषु हतः पञ्चेषुपावकः ॥५५॥

तभी तक बड़प्पन, पांडित्य, कुलीनता और भले बुरे का विचार हुआ करता है, जब तक हृदयमें कामाग्निकी ज्वाला नहीं धधकती है ॥ ५५ ॥

शास्त्रज्ञोऽपि प्रथितविनयोऽप्यात्मबोधोऽपि बाढं
संसारेऽस्मिन्भवति विरलो भाजनं सद्गतीनाम् ।
येनैतस्मिन्निरयनगरद्वारमुद्घाटय
वामाक्षीणां भवति कुटिला भ्रूलता कुञ्चिकेव ॥५६॥

शास्त्रका ज्ञान रहते हुए भी, नीतिशास्त्रका अच्छी तरह अध्ययन करने पर भी, विरलाही मनुष्य उत्तम गतिको प्राप्त होता है, क्योंकि कामिनीकी कुटिल भ्रूलता नरकरूपी नगरके द्वारको खोले हुए बैठी है ॥ ५६ ॥

कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलो
व्रणी पूयक्लिन्नः कृमिकुलशतैरावृततनुः ।
क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरककपालार्पितगलः
शुनीमन्वेति श्वा हतमपि निहन्त्येव मदनः ॥५७॥

दुर्बल, काना, लँगड़ा, कनकटा, पूंछकटा, फोड़ोंसे भरा, पीबभरा, सैकड़ों कीड़ोंसे व्याप्त, भूखसे व्याकुल, बूढ़ा, मट्टीके घड़ेमें फँसे हुए गर्दनवाला भी कुत्ता कुतीके पीछे २ लगाही रहता है, ठीकही है कामदेव मरेको भी मारता ही है ॥ ५७ ॥

स्त्रीमुद्रां मकरध्वजस्य परमां सर्वार्थसम्पत्करीं
ये मूढाः प्रविहाय यान्ति कुधियो स्वर्गादिलाभेच्छया ।
ते तेनैव निहत्य निर्दंतरं नग्नीकृता मुण्डिताः
केचित्पञ्चशिखीकृताश्च जटिलाःकापालिकाश्चापरे ।५८

समस्त कार्य और सम्पत्तिको देनेवाली कामदेवकी मुद्रा (मोहर) स्वरूप स्त्रीको स्वर्गादिके लाभकी इच्छासे जो कुबुद्धि मूर्ख मनुष्य त्याग देते हैं अर्थात् विरक्त हो जाते हैं, उनको विरक्त वेशमें न समझो किन्तु ऐसा समझो कि कामदेवने ही उनके स्त्री त्यागसे क्रुद्ध होकर निर्दयता पूर्वक उनमेंसे किसीको नङ्गा बना दिया, किसीको मूड़ मुड़वा दिया, किसीको पांच चोटी रखवा दी, किसीको जटाधारी बनवा दिया और किसीके हाथ खप्पर देकर भीख मँगवा दिया ॥ ५८ ॥

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः ।

शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद्विन्ध्यस्तरेत्सागरम् ॥५६

जब कि वायु, जल और पत्तोंको खानेवाले विश्वामित्र और पराशर प्रभृति महर्षि भी स्त्रियोंके सुंदर मुखकमलको देखतेही मोहित हो गये, इन्द्रियोंका निग्रह न कर सके तो दही, दूध और घी से युक्त अन्नको खानेवाले मनुष्योंको यदि इन्द्रिय निग्रह हो जाय तब यह समझनेमें कोई आश्चर्य नहीं है कि विन्ध्यपर्वत समुद्र पर तैर रहा है ॥ ५६ ॥

सिद्धाध्यासितकंदरे हरवृषस्कंधावगाढद्रुमे
गंगाधौतशिलातले हिमवतः स्थाने स्थिते श्रेयसि ।
कः कुर्वीत शिरः प्रणाममलिनं म्लानं मनस्वी जनो
यद्वित्रस्तकुरंगशावनयना न स्युः स्मरास्त्रं स्त्रियः ६०

यदि संसारमें भगवान् कामदेव का अस्त्र स्त्रियां न होतीं तो कौन मनस्वी पुरुष पुण्यभूमि हिमालयको, जिसकी कन्दरामें सिद्धगण रहा करते हैं, शंकरका वाहन बैल पेड़ोंमें कन्धा रगड़ता रहता है और जहांके पत्थर गंगाजलसे घुले रहते हैं, छोड़कर औरोंके सामने सिर झुकाकर अपने मनको मलिन करता ॥६०॥

संसार ! तव पर्यंतपदवी न दवीयसी ।
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि ते मदिरेक्षणाः ॥ ६१ ॥

हे संसार ! तेरे पार करनेका मार्ग कठिन न होता यदि बीचमें कामिनीरूप बाधा न रहती ॥ ६१ ॥

राजन् तृष्णाम्बुराशेर्नहि जगति गतः कश्चिदेवावसानं
को वार्थोऽर्थैः प्रभूतैः स्ववपुषि गलिते यौवने सानुरागे
गच्छामः सद्म तावद्विकसितनयनेन्दीवरालोकिनीनां
यावच्चाक्रम्य रूपं झटिति न जरया लुप्यते प्रेयसीनाम् ६२

हे राजन् ! इस संसारमें तृष्णारूपी समुद्रको कोई पार नहीं कर सका है, इसलिए धनलिप्सा व्यर्थ है और अनुरागभरी जवानी जब शरीरमें ही विलीन हो जाती है तब अधिक धन पैदा करने का भी क्या प्रयोजन ? इसलिए सबसे अधिक महत्व यौवनका ही है, वृद्धावस्था कमलके समान नेत्रवाली प्रियतमाके सौन्दर्यको नष्ट न करदे इस कारण हम अभी घर जाते हैं ॥ ६२ ॥

रागस्यागारमेकं नरकशतमहादुःखसम्प्राप्तिहेतु-
र्मोहस्योत्पत्तिबीजं जलधरपटलं ज्ञानताराधिपस्य ।
कन्दर्पस्यैकमित्रं प्रकटितविविधस्पष्टदोषप्रबन्धं
लोकेऽस्मिन्नह्यनर्थव्रजकुलभवनं यौवनादन्यदस्ति । ६३

इस लोकमें यौवनको छोड़कर दूसरा कोई अनर्थोंके उत्पत्ति का स्थान नहीं है । यह समस्त झगड़ेके मूलभूत प्रेतका एकमात्र स्थान है, नरकोंमें प्राप्त होनेवाले असह्य दुःखोंका मूल कारण है, मोहके उत्पत्तिका बीज है, ज्ञानरूपी चन्द्रमाको ढांकनेवाला मेघ है, कामदेवका अद्वितीय मित्र है और अनेक प्रकारके दोषोंको प्रगट करनेवाला है ॥ ६३ ॥

शृङ्गारद्रुमनीरदे प्रचुरतः क्रीडारसस्रोतसि ।
प्रद्युम्नप्रियबान्धवे चतुरतामुक्ताफलोदन्वति ।

तन्वीनेत्रचकोरपारणविधौ सौभाग्यलक्ष्मीनिधौ
धन्यः कोऽपि न विक्रियां कलयति प्राप्ते नवे यौवने ६४

जहां, शृङ्गाररूपी वृक्षोंको सींचनेवाला, कामकेलिके रसको बहानेवाला, कामदेवका प्रियबन्धु, चातुर्यरूप मोतियोंका समुद्र, कामिनियोंके नेत्ररूपी चकोरोंका चन्द्रमा, सौन्दर्य लक्ष्मीका खजाना आदि विषय सुलभ है, वहां नौजवानीके प्राप्त होनेपर भी जिसको कामविकार नहीं होता, वह पुरुष धन्य है ॥ ६४ ॥

स्मृता भवति तापाय दृष्टा चोन्मादवर्धिनी ।
स्पृष्टा भवति मोहाय सा नाम दयिता कथम् ॥६५॥

जो स्त्री स्मरण करने मात्रसे सन्ताप देती है, देखनेपर पागल बना देती है, स्पर्श कर लेनेपर मोहित कर देती है, वह प्रिया कैसे हो सकती है ? ॥ ६५ ॥

तावदेवामृतमयी यावल्लोचनगोचरा ।
चक्षुःपथादपगता विषादप्यतिरिच्यते ॥६६॥

स्त्री जब तक सामने है तभी तक अमृत के समान आनन्द देती है, आंखोंके ओट हो जाने पर वही विरहके कारण विषसे भी अधिक दुःखदायक हो जाती है ॥ ६६ ॥

नामृतं न विषं किञ्चिदेकां मुक्त्वा नितम्बिनीम् ।
सैवामृतलता रक्ता विरक्ता विषवल्लरी ॥६७॥

प्रियतमाको छोड़कर न तो कोई दूसरा अमृत है और न तो कोई विष पदार्थ ही है, क्योंकि अनुरक्त हो जाने पर प्रियतमा

ही अमृत लताके समान आनन्द देती है और वही विरक्त हो जाने पर विषकी मञ्जरी हो जाती है ॥ ६७ ॥

आवर्तः संशयानामविनयभवनं पत्तनं साहसानां
दोषाणां सन्निधानं कपटशतमयं क्षेत्रमप्रत्ययानाम् ।
स्वर्गद्वारस्य विघ्नो नरकपुरमुखं सर्वमायाकरण्डं
स्त्रीयन्त्रं केन सृष्टं विषममृतमयंप्राणिनांमोहपाशः ६८

प्राणियोंके लिये गलेके फन्देकी तरह विष तथा अमृतरूप इस स्त्रीरूपी यंत्रको किसने बनाया ? जो समस्त संशयोंका एकमात्र स्थान अविनयका घर, साहसका नगर, दोषोंका खजाना, सैकड़ों प्रकारके कपटों और अविश्वासोंका खेत, स्वर्गका विघ्न, नरकपुरका द्वार और हर तरहकी मायाका पिटारा है ॥ ६८ ॥

सत्यत्वे न शशाङ्क एष वदनीभूतो न चेन्दीवर-
द्वन्द्वं लोचनतां गतं न कनकैरप्यङ्गयष्टिः कृता ।
किन्त्वेवं कविभिः प्रतारितमनस्तत्त्वे विजानन्नपि
त्वङ्मांसास्थिमयं वपुर्मृगदृशां मन्दोजनःसेवते॥ ६९॥

यदि सचमुच देखा जाय तो स्त्रियोंका मुख न तो चन्द्रमा है, न तो इनकी आंखें कमल हैं और न तो इनका देह ही सुवर्ण है, इस यथार्थ वस्तुको जानते हुए भी कवियों द्वारा बहकाये हुए मन्दमति पुरुष चाम, मांस और हड्डीसे बने हुए स्त्रियोंके शरीर का सेवन करते हैं ॥ ६९ ॥

लीलावतीनां सहजा विलासा
स्त एव मूढस्य हृदि स्फुरन्ति ।

रागो नलिन्या हि निसर्गसिद्ध

स्तत्र भ्रमत्येव मुधा षडङ्घ्रिः ॥७०॥

मूर्ख मनुष्य सुन्दरी स्त्रियोंके प्राकृतिक हाव-भावोंको भी 'ये हमारे ही लिये इसने किये हैं' ऐसा समझकर व्यर्थ ही उन पर मोहित होता है। कमलिनीको ललाई स्वाभाविक है, पर भ्रमर उसे अपने लिये बनी समझकर व्यर्थ ही आसक्त होता है और उसपर चक्कर काटा करता है॥ ७० ॥

जल्पन्ति सार्द्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः

हृदये चिन्तयन्त्यन्यं प्रियः को नाम योषिताम् ॥७१॥

स्त्रियोंका यथार्थमें कोई प्रिय नहीं है, ये किसी से बातें करती हैं, तो किसी और को ही विलास भरी दृष्टिसे देखती हैं और हृदयमें किसी और को ही चाहा करती हैं॥ ८१ ॥

मधु तिष्ठति वाचि योषितां हृदिहालाहलमेवकेवलम्।

अत एव निपीयतेऽधरो हृदयं मुष्टिभिरेव ताड्यते ७२

स्त्रियोंकी वाणीमें मधु और हृदयमें केवल विष रहा करता है। इसीलिये इनका अधरपान किया जाता है और हृदय, स्तन मर्दनके बहाने मुट्ठियोंसे ताड़ित किया जाता है॥ ७२ ॥

अपसर सखे दूरादस्मात्कटाक्षविषानलात्

प्रकृतिविषमाद्योषित्सर्पाद्विलासफणाभृतः।

इतरफणिना दष्टाः शक्याश्चिकित्सितुमौषधै-

श्चतुरवनिताभोगिग्रस्तंत्यजन्तिहिमंत्रिणः ॥७३॥

हे मित्र! कटाक्षरूपी विषाग्निको धारण करनेवाले स्वभावसे ही भयङ्कर, विलासरूपी फण वाले स्त्रीरूपी सर्पसे दूर भागो। क्योंकि व्यवहार प्रसिद्ध सर्पोंसे काटे हुए लोग औषधिसे अच्छे किये जा सकते हैं पर स्त्रीरूपी सर्पसे काटे हुए लोग अच्छे नहीं किये जा सकते ॥ ७३ ॥

विस्तारितं मकरकेतनधीवरेण
स्त्रीसंज्ञितं बडिशमत्र भवाम्बुराशौ।
येनाचिरात्तदधरामिषलोलमर्त्य
मत्स्यान्विकृष्य पचतीत्यनुरागवह्नौ ॥७४॥

इस संसाररूपी समुद्रमें कामदेवरूपी केवटने स्त्रीरूपी जालको फैलाया है, जिसमें उसके अधरपल्लवरूपी मांसके लोभी मनुष्यरूपी मछलियोंको पकड़कर प्रेमरूपी अग्निमें वह पकाया करता है ॥७४॥

कामीनीकायकान्तारे कुचपर्वतदुर्गमे।
मा सञ्चर मनःपान्थ तत्रास्ते स्मरतस्करः ॥७५॥

हे मनरूपी पथिक! तू स्तनरूपी पर्वतोंसे अति दुर्गम कामिनियोंके शरीररूपी बनमें सञ्चार न कर, क्योंकि वहां कामरूपी चोर है, जो तुझे लूट लेगा ॥ ७५ ॥

व्यादीर्घेण चलेन वक्रगतिना तेजस्विना भोगिना
नीलाब्जद्युतिनाऽहिना वरमहं दष्टो न तच्चक्षुषा।
दष्टे सन्ति चिकित्सका दिशिदिशि प्रायेण धर्मार्थिनो
मुग्धाक्षीक्षणवीक्षितस्य नहि मे वैद्यो न चाप्यौषधम्७६

बहुत लम्बे, चञ्चल और टेढ़ी चालवाले, तेजस्वी सर्पसे काटा गया मैं अपनेको अच्छा समझता हूँ. किन्तु कामिनीके कटाक्षसे मारा जाना अच्छा नहीं समझता क्योंकि सांपसे काटे हुएको बचाने वाले वैद्य प्रायः सभी दिशाओंमें मिलते हैं, किन्तु कामिनाके नेत्र से मारे गये मुझको बचानेके लिये न तो कोई वैद्य है न तो कोई औषधि ही है ॥ ७६ ॥

जात्यन्धाय च दुर्मुखाय च जराजीर्णाखिलाङ्गाय च
ग्रामीणाय च दुष्कुलाय च गलत्कुष्ठाभिभूताय च ।
यच्छन्तीषु मनोहरं निजवपुर्लक्ष्मीलवश्रद्धया
पण्यस्त्रीषु विवेकल्पलतिकाशस्त्रीषु रज्येत कः ॥७७॥

विवेकशील कौन पुरुष ऐसी वेश्याओंमें रमण करेगा, जो जन्मसे अन्धे, कुरूप, वृद्धावस्थासे शिथिल शरीरवाले, गँवार, नीच जातिवाले और गलित कुष्ठवाले पुरुषको थोड़ेसे धनके लोभमें अपने मनोरम शरीरको समर्पण कर देती है और सदसद्विवेकको काटनेके लिये सदा प्रस्तुत रहा करती है ॥७७॥

वेश्यासौ मदनज्वाला रूपेन्धनसमेधिता ।
कामिभिर्यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च ॥७८॥

यह वेश्या सौन्दर्यरूपी इन्धनसे प्रज्वलित कामाग्निकी ज्वाला है, जिसमें कामी जन अपने धन और यौवन दोनोंका होम किया करते हैं ॥७८॥

कश्चुम्बति कुलपुरुषो वेश्याधरपल्लवं मनोज्ञमपि ।
चारभटचोरचेटकविटनट निष्ठीवनशरावम् ॥७९॥

वेश्याओंका अधर पल्लव जो गुप्त पुरुषों, लड़ाकों, चोरों, वेश्याओंके दलालों जारों और नटों द्वारा चुम्बनसे उच्छिष्ट होकर अपवित्र और पीकदानकी तरह बन चुका है, उसको कौन ऐसा कुलीन व्यक्ति है जो चुम्बन करता हो ॥७९॥

धन्यास्त एव तरलायतलोचनानां
तारुण्यरूपधनपीनपयोधराणाम् ।
क्षामोदरोपरिलसत्त्रिवलीलतानां
दृष्ट्वाकृतिं विकृतिमेति मनो न येषाम् ॥८०॥

वे नर धन्य हैं जिनका मन चचल नेत्रवाली, पुष्ट स्तनों वाली, कृश उदर पर उत्पन्न हुई त्रिवलीसे शोभायमान तरुणी सुन्दरीको देखकर भी विकारको प्राप्त नहीं होता ॥८०॥

बाले लीलामुकुलितममी सुन्दरा दृष्टिपाताः
किं क्षिप्यन्ते विरम विरम व्यर्थ एष श्रमस्ते ।
सम्प्रत्यन्ये वयमुपरतं बाल्यमास्था वनान्ते
क्षीणो मोहस्तृणमिव जगज्जालमालोकयामः ॥८१॥

हे सुन्दरी अपने भावोंको प्रकट करनेवाले अधखिले और सुन्दर कटाक्षोंको फेंक रही हो ? छोड़दे, छोड़दे, तेरा यह परिश्रम व्यर्थ है। क्योंकि अब हम कुछ और ही हो गये हैं. अब मेरी लड़कई समाप्त हो चुकी, अब तो जंगलमें रहनेकी श्रद्धा है, मोह (प्रेम) हृदयसे जाता रहा, इस संसाररूपी जालको तृण की तरह निस्तत्व समझते हैं ॥८१॥

इयं बाला मां प्रत्यनवरतमिन्दीवरदल-
प्रभाचोरं चक्षुः क्षिपति किमभिप्रेतमनया ।
गतो मोहोऽस्माकं स्मरशबरबाणव्यतिकर-
ज्ज्वलज्ज्वालाः शान्तास्तदपि न वराकी विरमति ८२

यह तरुणी नील कमलके समान अपने नेत्रोंको निरन्तर मुझपर फेकती है, इसमें इसका क्या अभिप्राय है, समझमें नहीं आता। यदि वह अपने प्रेमका पात्र मुझे बनाना चाहती हो तो उसका यह प्रयत्न व्यर्थ है, क्योंकि हमारा मोह अब समाप्त हो चुका, कामदेवरूपी भिल्लके बाणोंसे उत्पन्न धधकती हुई अग्नि शान्त हो चुकी है, फिर भी यह बाला अपने व्यापारसे बाज नहीं आती ॥८२॥

शुभ्रं सद्म सविभ्रमा युवतयः श्वेतातपत्रोज्ज्वला
लक्ष्मीरित्यनुभूयते स्थिरमिव स्फीते शुभे कर्मणि ।
विच्छिन्ने नितरामनङ्गकलहक्रीडात्रटत्तन्तुकं
मुक्ताजालमिव प्रयाति झटितिभ्रश्यद्दिशो दृश्यताम् ८३

जब मनुष्यके पुण्यका उदय होता है तभी आलीशान भवन, हाव-भाव पूर्ण तरुणी, श्वेतच्छत्रसे युक्त लक्ष्मी आदिका भोग उसे प्राप्त होता है, और पुण्यके नष्ट हो जाने पर प्राप्त समस्त सम्पत्ति कामके लिये कलहसे टूटे हुए हारके मोतियों की तरह, नष्ट-भ्रष्ट होकर तितर-बितर हो जाती है ॥८३॥

यदा योगाभ्यासव्यसनकृशयोरात्ममनसो-
रविच्छिन्ना मैत्री स्फुरति यमिनस्तस्य किमु तैः ।

प्रियाणामालापैरधरमधुभिर्वक्त्रविधुभिः
सनिश्वासामोदैः सकुचकलशाऽऽश्लेषसुरतैः ॥८४॥

योगाभ्यासकी लगनमें आसक्त जिस महापुरुष की आत्मा और मनकी मैत्री निरन्तर जागरूक रहा करती है, इन्द्रियों को अपने वशमें रखनेवाले उस योगिमहापुरुष को स्त्रियोंके मधुर भाषण, अधरामृतके पान मुखचन्द्रका चुम्बन और स्तनोंके आलिंगनसे युक्त सम्भोग आदिसे क्या प्रयोजन ? ॥८४॥

किं कन्दर्प करं कदर्थयसि किं कोदण्डटङ्कारितं
रे रे कोकिल कोमलं कलरवं किं त्वं वृथा वल्गसे।
मुग्धे स्निग्धविदग्धमुग्धमधुरैर्लोलैः कटाक्षैरलं
चेतश्चुम्बितचन्द्रचूडचरणध्यानामृतं वर्तते ॥८५॥

हे कामदेव ! धनुषके टंकारसे अपने बाणों को क्यों व्यर्थ बना रहे हो ? रे कोकिल ! कामोन्मादक मधुर शब्दोंका उच्चारण क्यों कर रहे हो ? हे सुन्दरी ! प्रेम रससे भरे तेरे सुन्दर कटाक्ष अब व्यर्थ हैं, क्योंकि मेरा मन भगवान् शंकरके चरणोंके ध्यानरूपी अमृतमें मग्न है ॥८५॥

यदासीदज्ञानं स्मरतिमिरसञ्चारजनितं
तदा सर्वं नारीमयमिदमशेषं जगदभूत्।
इदानीमस्माकं पटुतरविवेकाञ्जनदृशां
समीभूता दृष्टिस्त्रिभुवनमपि ब्रह्म मनुते ॥८६॥

जिस समय कामरूपी अन्धेरेके कारण मनुष्य अज्ञानमें डूबा रहता था उसको सारा जगत् स्त्रीमय दिखाई पड़ता था, परन्तु विवेकरूपी अंजनके लगानेसे जब उसको दृष्टि सम हो गई तब उसको सारा त्रैलोक्य ब्रह्ममय दिखाई देने लगा ॥ ८६ ॥

वैराग्ये सञ्चरत्येको नीतौ भ्रमति चापरः ।
शृङ्गारे रमते कश्चिद् भुवि भेदाः परस्परम् ॥८७॥

कोई पुरुष वैराग्यमें अनुरक्त है तो कोई नीति मार्गमें विचरता है, कोई शृङ्गार रसमें ही रमता रहता है। इस तरह पृथ्वी पर मनुष्य परस्पर भिन्न-भिन्न रुचिके हुआ करते हैं ॥ ८७ ॥

यद्यस्य नास्ति रुचिरं तस्मिंस्तथा स्पृहा मनोज्ञेऽपि ।
रमणीयेऽपि सुधांशौ न मनः कामाः सरोजिन्यः ॥८८

जो वस्तु जिसको प्रिय नहीं है, उसके सुन्दर होने पर भी उसकी प्राप्ति की इच्छा उसे कभी उत्पन्न नहीं होती। चन्द्रमा परम सुन्दर होनेपर भी कमलिनी कभी उसको नहीं चाहती ॥ ८८ ॥

अजितात्मसु सम्बद्धः समाधिकृतचापलः ।
भुजगकुटिलः स्तब्धो भ्रूविक्षेपः खलायते ॥८९॥

इन्द्रियोंके अधीन रहनेवाले मनुष्योंसे संबंध रखनेवाला, समाधिसे अधिक चञ्चल, सर्पके समान कुटिल और अवसर पड़ने पर स्तब्ध रहनेवाला स्त्रियोंका कटाक्ष, खल मनुष्योंका आचरण करता है ॥ ८९ ॥

सुधामयोऽपि क्षयरोगशान्त्यै
नासाग्रमुक्ताफलकच्छलेन ।

अनङ्गसञ्जीवनदृष्टिशक्ति-
मुंखामृतं ते पिबतीव चन्द्रः ॥६०॥

हे सुन्दरि ! अमृतमय भी चंद्रमा जो कामदेवको जीवन दान करनेकी शक्ति रखता है. क्षय रोगकी शांतिके लिये नाकमें लटकते हुए मोतीके बहाने तेरे अधररूपी अमृतको पीता है। (आयुर्वेदिक चिकित्सामें क्षयरोगमें मोती खिलाना प्रसिद्ध है) ॥६०॥

किं गतेन यदि सा न जीवति
प्राणिति प्रियतमा तथापि किम्।
इत्युदीक्ष्य नवमेघमालिकां
न प्रयाति पथिकः स्वमन्दिरम् ॥६१॥

वह मेरी प्रियतमा विरह दुःखमें यदि प्राण त्याग चुकी हो अथवा किसी उपायसे केवल श्वासोच्छ्वास ले रही हो तो भी मेरा जाना व्यर्थ ही है, ऐसा समझकर पथिक नवीन मेघमालाको देखकर घर न जाकर विरक्त हो जाता है ॥ ६१ ॥

इह हि मधुरगीतं नृत्यमेतद्रसोऽयं
स्फुरति परिमलोऽसौ स्पर्श एष स्तनानाम्।
इति हतपरमार्थैरिन्द्रियैर्भ्राम्यमाणो
ह्यहितकरणदक्षैः पञ्चभिर्वञ्चतोऽस्मि ॥६२॥

इस संसारमें कानोंको आनंद देनेवाला गान, नेत्रोंको आनंद देनेवाला नाट्य, जिह्वाको सुख देनेवाला अधरामृत, घ्राणेन्द्रियको तृप्त करनेवाला सुगंध, त्वगिन्द्रियको परमानंद

देनेवाला स्तनस्पर्श इस तरह परमपुरुषार्थसे भ्रष्ट करनेवाले धूर्त पांच इन्द्रियों द्वारा अपने २ विषयोंमें फँसाया जाकर मैं ठगा गया ॥६२॥

न गम्यो मंत्राणां न च भवति भैषज्यविषयो
न चापि प्रध्वंसं व्रजति विविधैः शान्तिकशतैः।
भ्रमावेशादंगे किमपि विदधद्भङ्गमसकृत्
स्मरापस्मारोऽयं भ्रमयति दृशं घूर्णयति च ॥६३॥

कामदेवरूपी यह अपस्मार (मृगी रोग) मनमें मोह उत्पन्न कर मतिभ्रंश करता है और उससे उन्मादावस्थाको प्राप्त होकर हाथ पैरों को पटका करता है, आखोंको चक्रकी तरह किसी एक जगह स्थिर नहीं रखता। इसमें न मंत्रकी गति है, न औषधियोंकी ही, भिन्न भिन्न प्रकारकी शांतिसे भी कुछ मतलब नहीं निकल पाता ॥६३॥

संसारेऽस्मिन्नसारे कुनृपतिभुवनद्वारसेवाकलङ्क-
व्यासङ्गव्यस्तधैर्यं कथममलधियो मानसं संविदध्युः।
यद्येताःप्रोद्यदिन्दुद्युतिनिचयभृतो न स्युरम्भोजनेत्राः
प्रेङ्खत्काञ्चीकलापाःस्तनभरविनमन्मध्यभागास्तरुण्यः

इस निस्तत्त्व संसारमें निर्मल विचार वाले लोग भी अधीर चित्त होकर दुष्ट राजाओंकी सेवामें कैसे उपस्थित हो सकते ? यदि उदीयमान चंद्रमाकी कांतिके समान तथा कमल सदृश नेत्र-वाली, स्तनोंके भारसे कुछ २ झुके हुए मध्यमान वाली स्त्रियां न होतीं ॥६४॥

दिश वनहरिणेभ्यो वंशकाण्डच्छवीनां
कवलमुपलकोटिच्छिन्नमूलं कुशानाम् ।
शुकयुवतिकपोलापाण्डुताम्बूलवल्ली-
दलमरुणनखाग्रैः पाटितं वा वधूभ्यः ॥९५॥

हे मनुष्यों ! आपलोग जंगली हरिणोंको खानेके लिये हरे-हरे कुशोंके ग्रासोंको दो, अथवा अपनी प्रियतमाओंके लिये नखोंसे तोड़े हुए शुक युवतियोंके समान पाण्डुवर्णवाले अच्छे-अच्छे ताम्बूल के पत्ते दो। अर्थात् विरक्त होकर जंगल चले जाओ या अनुरक्त हो संसारका आनंद लो ॥९५॥

उन्मीलत्त्रिवलीतरङ्गनिलया प्रोत्तुङ्गपीनस्तन-
द्वन्द्वेनोद्यतचक्रवाकमिथुना वक्त्राम्बुजोद्भासिनी ।
कान्ताकारधरा नदीयमभितः क्रूराऽत्र नापेक्षते
संसारार्णवमज्जनं यदि ततो दूरेण संत्यज्यताम् ॥९६॥

यदि संसाररूपी समुद्रमें स्नान करना नहीं चाहते हो तो स्त्रीरूपी नदीको दूरही से त्याग दो, जिसमें उदरकी त्रिवलीही लहरें हैं, पुष्ट और उमड़े हुए दोनों स्तनही चक्रवाक हैं और मगर-घड़ियाल आदि क्रूर जीव रहा करते हैं ॥९६॥

मत्तेभकुम्भपरिणाहिनि कुंकुमार्द्रे
कान्तापयोधरतटे रतिखेदखिन्नः ।
वक्षो निधाय भुजपञ्जरमध्यवर्त्ती
धन्यः क्षपां क्षपयति क्षणलब्धनिद्रः ॥९७॥

जो पुरुष संभोगसे उत्पन्न थकावटको दूर करनेके लिये अपने वक्षस्थलको उन्मत्त हाथीके गण्डस्थलके समान विस्तीर्ण और केशरसे आर्द्र कान्ताके स्तनों पर रखकर तथा उसके बाहुपाश में अपने आपको डालकर क्षणमात्र निद्रा प्राप्त करता है वह धन्य है ॥ ९८ ॥

यदेतत्पूर्णेन्दुद्युतिहरमुदाराकृतिवरं
मुखाब्जं तन्वंग्याः किल वसति यत्राधरमधु ।
इदं तावत्पाकद्रुमफलमिवातीव विरसं
व्यतीतेऽस्मिन्काले विषमिव भविष्यत्यसुखदम् ९९

कान्ताका मुख कमल पूर्णचन्द्रकी कान्तिको हरनेवाला है, जहां अधरोंमें अमृत रहा करता है परन्तु यही अमृत जवानी ढल जाने पर मदारके फलके समान नीरस और विषकी तरह दुखदायी होता है ॥ ९९ ॥

कान्तेत्युत्पललोचनेति विपुलश्रोणीभरेत्युत्सुकः
पीनोत्तुंगपयोधरेति सुमुखाम्भोजेति सुभ्रूरिति ।
दृष्ट्वा माद्यति मोदतेऽभिरमते प्रस्तौति जानन्नपि
प्रत्यक्षाशुचिपुत्रिकां स्त्रियमहो मोहस्य दुश्चेष्टितम् १००

विद्वान् पुरुष, स्त्रीको अपवित्रताकी पुतली जानते हुए भी उसे देखकर उन्मत्त होता है, आनन्दित होता है, प्रेम करता है

और कमलके समान नेत्रवाली, बड़े-बड़े नितम्बवाली, उभड़े हुए पुष्ट स्तनोंवाली, सुन्दर भौंहोंवाली आदि कह-कहकर स्तुति किया करता है ॥ १०० ॥

इति श्रीमद्भर्तृहरिशतके नाथविरचित भाषा-टीका
संवलितं शृङ्गारशतकं समाप्तम् ।



श्रीः

* अथ वैराग्यशतकम् *



चूडोत्तंसितचारुचन्द्रकलिकाचञ्चच्छिखाभास्वरो
लीलादग्धविलोलकामशलभः श्रेयोदशाग्रे स्फुरन् ।
अन्तः स्फूर्जदपारमोहतिमिरप्राग्भारमुच्चाटयं-
श्चेतः सद्मनि योगिनां विजयते ज्ञानप्रदीपो हरः ॥१॥

शिरोभूषणीभूत चन्द्रमाके किरणोंसे प्रकाशमान, कामदेव रूपी फतिंगोंको लीलासे ही जलानेवाले, कल्याण करनेवालोंमें अग्रगण्य भक्तोंके अन्तःकरण में स्थित मोहरूपी अन्धेरेको नाश करनेवाले, ज्ञानके प्रकाशक भगवान् शंकर योगियोंके हृदयमें रहा करते हैं ॥१॥

बोद्धार मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः ।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम् ॥२॥

विद्वान् ईर्ष्यासे ग्रस्त हैं, प्रभु (धनी) गर्वसे दूषित हैं, इन दोनोंके अतिरिक्त बाकी बचे लोग अज्ञानमें डूबे हैं, इस कारण कवियोंकी बहुमूल्य उक्तियां उनके मनकी मनहीमें रह जाती हैं, उनको कोई समझ नहीं पाता ॥२॥

न संसारोत्पन्नं चरितमनुपश्यामि कुशलं
विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः ।

महद्भिः पुण्यौघैश्चिरपरिगृहीताश्च विषया
महान्तो जायन्ते व्यसनमिव दातुं विषयिणाम् ॥३॥

संसारके चरित्रोंको देखते हैं तो उनमें कल्याण नहीं दिखाई देता, विचार करनेपर पवित्र कर्मोंका फल भी भय ही उत्पन्न करता है। चिर सञ्चित पुण्य समूहों द्वारा प्राप्त भी विषय विषयी पुरुषोंके लिये दुःखदायी ही होते हैं ॥३॥

उत्खातं निधिशङ्कया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवो
निस्तीर्णः सरितां पतिर्नृपतयो यत्नेन सन्तोषिताः।
मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीताः स्मशाने निशाः
प्राप्तः काणवराटकोऽपि न मया तृष्णेऽधुना मुञ्चमाम्॥४॥

हे तृष्णे! अब तो मुझे छोड़, अरी मैंने तेरे चक्करमें पड़कर खजानेकी खोज की इच्छासे सारी पृथ्वी खन डाली, रसायन सिद्धिके फेरमें पड़कर पर्वतीय समस्त धातुओंको फूँक डाला, धनकी इच्छासे समुद्रको भी पार किया, मन्त्रोंको जगानेके लिये स्मशानमें अनेक रात्रियां व्यतीत कीं पर आज तक एक कानी कौड़ी भी हाथ नहीं लगी ॥४॥

भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किञ्चित्फलं
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला
भुक्तं मानविवर्जितं परगृहे साशङ्कया काकव-
तृष्णे दुर्गतिपापकर्मनिरते नाऽद्यापि सन्तुष्यसि ॥५॥

मैंने आजतक बड़े-बड़े कठिन देशोंमें भ्रमण किया पर उससे कोई फल न मिला। अपनी जाति और कुलके अभिमानको त्याग कर जिनकी सेवा नहीं करनी उसे भी किया पर वह भी व्यर्थ हुई। अपने मानापमान का विचार न करते हुए दूसरों के घर कौओंकी तरह भोजन भी किया पर पापकर्म में प्रवृत्त हे तृष्णे! इतने पर भी तू सन्तुष्ट नहीं हुई ॥ ५ ॥

खलालापाः सोढ़ाः कथमपि तदाराधनपरै-
र्निगृह्यान्तर्बाष्पं हसितमपि शून्येन मनसा।
कृतश्चित्तस्तम्भः प्रहसितधियामञ्जलिरपि
त्वमाशे मोघाशे किमपरमतो नर्तयसि माम् ॥६॥

दुष्टोंकी आराधना करते हुए मैंने उनके कटु भाषणोंको किसी तरह सहा, आंसुओंको भीतरही भीतर रोककर उदास रहते हुए भी हँसा, मनको मारकर उनके सामने अञ्जलि बांधे रहा, हे तृष्णे! इससे अधिक और तूँ कौनसा नाच नचाना चाहती है ॥ ६ ॥

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्ति मरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥७॥

प्रतिदिन सूर्य के उदय और अस्त से आयु क्षीण होती जाती है, सांसारिक प्रपंचोंके चक्कर में ही सारा समय बीतता जा रहा है, उत्पत्ति, बुढ़ौती और मरणको देखकर भी इससे किसीको भय नहीं होता, इसलिये मालूम पड़ता है कि यह सारा संसार अज्ञानमयी

प्रमोदरूपी मदिराको पीकर उन्मत्त हो गया है ॥ ७ ॥

दीना दीनमुखैः सदैव शिशुकैराकृष्टजीर्णाम्बरा
क्रोशद्भिः क्षुधितैर्न रैर्न विधुरा दृश्येत चेद् गेहिनी
याञ्चाभङ्गभयेन गद्गदलसत्त्रुट्यद्विलीनाक्षरं
को देहीति वदेत्स्वदग्धजठरस्यार्थे मनस्वी जनः॥८॥

यदि खानेके लिए कलपते हुए और दीन मुख वाले बच्चों से कपड़ों द्वारा नोची-खसोटी गयी दुखिया अपनी गृहिणी न देखी जाय तो कौन ऐसा स्वाभिमानी पुरुष होगा जो इस जले पेटके लिये याचना के व्यर्थ होनेके भयसे और रुंधे हुए गलेके कारण अस्पष्ट अक्षरों से मुझे दो ऐसा कहनेके लिये तैयार होगा। अर्थात् इन सब अनर्थों की मूल स्त्री ही है ॥ ८ ॥

निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानो विगलितः
समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः ।
शनैर्यष्ट्योत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने
अहो दृष्टः कायस्तदपि मरणापाय चकितः ॥ ९ ॥

भोगकी इच्छा नष्ट होगयी, पुरुषत्व का अभिमान समाप्त होगया, समान वयवाले प्रिय मित्रगण स्वर्ग चले गये, स्वयं भी लकड़ी टेक टेक कर चलने लगे, आंखोंसे कम सूझने लगा फिरभी मरने का नाम सुनते ही मनुष्य भयभीत हो जाता है, आश्चर्य है ॥ ९ ॥

हिंसाशून्यमयत्नलभ्यमशनं धात्रा मरुत्कल्पितं
व्यालानां, पशवस्तृणाङ्कुरभुजः सृष्टाः स्थलीशायिनः ।

संसारार्णवलङ्घनक्षमधियां वृत्तिः कृता सा नृणां
यामन्वेषयतां प्रयान्ति सततं सर्वे समाप्तिं गुणाः १०

सृष्टिकर्ता विधाताने हिंसारहित और बिना प्रयत्नसे मिलने-वाली वायुको सर्पोंका भोजन बनाया, तृणोंके अंकुरोंको पशुओंका भोजन बनाया और संसाररूपी समुद्रको पार करनेमें समर्थ मनुष्योंकी वह वृत्ति बनाई जिसकी खोजमें उनके सारे गुण समाप्त-प्राय हो जाते हैं ॥ १० ॥

न ध्यातं पदमीश्वरस्य विधिवत् संसारविच्छित्तये
स्वर्गद्वारकपाटपाटनपटुर्धर्मोऽपि नोपार्जितः ।
नारीपीनपयोधरोरुयुगलं स्वप्नेऽपि नाऽऽलिङ्गितं
मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयम् ॥११॥

भव बन्धनको काटनेके लिये मैंने विधि पूर्वक परमात्माके चरणोंका ध्यान न किया, न तो स्वर्ग द्वारके खोलनेकी कुञ्जी धर्मका उपार्जन ही किया। स्त्रीके पुष्ट स्तनोंका मर्दन भी न किया, न सघन जघनोंका आलिङ्गन ही किया, केवल माताके यौवनरूपी बनको काटनेमें हम कुठारके रूपमें उत्पन्न हुए ॥ ११ ॥

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता-
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव याता-
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥१२॥

हम विषयोंको न भोग सके, विषयोंने ही हमें भोग लिया।

हम तप नहीं कर सके, पर तप ने ही हमें तपा लिया, काल व्यतीत न हुआ, किन्तु हम ही व्यतीत हो गये, तृष्णा समाप्त न हुई, किन्तु हम ही समाप्त हो गये ॥ १२ ॥

क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न सन्तोषतः
सोढा दुःसहशीतवातपवनक्लेशा न तप्तं तपः ।
ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमित प्राणैर्न शम्भोः पदं
तत्तत्कर्मकृतं यदेव मुनिभिस्तैस्तैः फलैर्वञ्चितम् ॥ १३ ॥

हमने सहन किया पर क्षमासे नहीं, किन्तु असमर्थता से, गार्हस्थ्य सुखको त्यागा सही पर सन्तोष से नहीं, अपितु दरिद्रताके कारण, भले ही शीत, वात और तपनके कष्टको सहा पर तपके कष्टको न सहा, ध्यान तो किया पर धनका किया, प्राणायाम द्वारा शंकर भगवानके चरणोंका नहीं किया, इस तरह मैंने वही कर्म किये जिनको मुनियोंने किया था, परन्तु उनका फल हमें मुनियोंके जैसा नहीं मिला ॥ १३ ॥

वलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितैरङ्कितं शिरः ।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ॥ १४ ॥

मुखपर काफी झुर्रियां पड़ गईं, सिरके बाल सफेद हो गये, शरीर शिथिल हो गया, परन्तु तृष्णा न घटी, वह तरुण ही होती जाती है ॥ १४ ॥

येनैवाम्बरखण्डेन संवीतो निशि चन्द्रमाः ।
तेनैव च दिवा भानुरहो दौर्गत्यमेतयोः ॥ १५ ॥

चन्द्रमा जिस आकाशरूपी वस्त्रसे अपनेको रात्रिमें ढँकता है, सूर्य भी उसीसे अपनेको दिनमें ढँकता है। आश्चर्य है कि संसारको प्रकाश देनेवाले इनको भी दूसरेके सामने दीन होना ही पड़ता है ॥ १५ ॥

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न मनो यत्स्वयममून् ।
जन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥१६॥

चिरकाल तक भोग किये विषय एक नएक दिन अवश्यही भोगनेवालेको छोड़ते हैं, तब यदि उन्हें स्वयंही छोड़ दिया जाय तो क्या हानि ? फिर भी इनको हम छोड़नेको तैयार नहीं। मनुष्योंको चाहिये कि वे इनको स्वयं छोड़ दें। अपनी इच्छासे विषयोंका त्याग करनेपर अत्यन्त सुख प्राप्त होता है और यदि विषयोंने छोड़ा तो बड़ा सन्ताप होता है ॥ १६ ॥

विवेकव्याकोशे विदधति शमे शाम्यति तृषा
परिष्वंगे तुङ्गे प्रसरतितरां सा परिणतिः ।
जराजीर्णैश्वर्यग्रसनगहनाक्षेपकृपण-
स्तृषापात्रं यस्यां भवति मरुतामप्यधिपतिः ॥१७॥

विवेकके उत्पन्न होनेसे शान्तिका उदय होता है, जिससे तृष्णा शांत होती है और यदि उसको लिपटाया तो वह बढ़ती ही जाती है। वृद्धावस्थामें जो विषयासक्ति होती है, उसको इन्द्र भी

नहीं रोक सकता और वह भी इसी तृष्णाका पात्र बनता है ॥१७॥

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं
शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम् ।
वस्त्रं च जीर्णशतखण्डमयी च कन्था
हा हा तथापि विषयान्न परित्यजन्ति ॥१८॥

भीख मांगकर खाना वह भी रूखा-सूखा और एक बार, सोना भी पृथ्वी ही पर, परिवार भी अपना शरीरही, पुरानी फटी गुदड़ी ही कपड़ा-इस तरहकी अवस्थामें रहते हुए भी मनुष्य विषय-वासनाको नहीं छोड़ते, आश्चर्य है ॥ १८ ॥

स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम् ।
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरकरस्पर्धिजघन-
मधो निन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरु कृतम् ॥१९॥

मांसके लोथड़े रूप स्तनोंको सुवर्णके कलशोंकी उपमा दी, खखार और थूकके पात्र मुखकी चन्द्रमासे तुलना की, टपकते हुए मूत्रसे भींगा जंघाको गजेन्द्रके सूंडकी उपमा दी, इस तरह निंद्यभी स्त्रियोंके रूपको कवियोंने कैसा बढ़ाकर कहा, आश्चर्य है।१९।

अजानन्माहात्म्यं पततु शलभो दीपदहने
स मीनोऽप्यज्ञानाद् बडिशयुतमश्नातु पिशितम् ।
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिलान्न
मुञ्चामः कामानहह ! गहनो मोहमहिमा ॥२०॥

अग्निकी महिमाको न जानता हुआ पतंग भलेही दीये की ज्वालामें अपने आपको जला डाले, मछली भी न जानकर बन्सी में लगे हुए मांसको खा ले चाहे फिर बन्सी का कांटा गलेमें भले ही फंस जाय, पर वह मांसके मोहको छोड़नेके लिये तैयार नहीं। इस तरह अपने कामों (इच्छाओं) का विपत्ति रूप जालके जजालसे युक्त जानकर भी हम लोग उन्हें छोड़नेके लिये तैयार नहीं हैं। अहो मोहकी महिमा कैसी कठिन है ॥२०॥

फलमलमशनाय स्वादु पानाय तोयं

शयनमवनिपृष्ठं वल्कले वाससी च ।

नवघनमधुपानभ्रान्तसर्वेन्द्रियाणा-

मविनयमनुमन्तुं नोत्सहे दुर्जनानाम् ॥२१॥

जबकि हमें भोजनके लिये फल, पीनेके लिये मधुर पानी, सोनेके लिये पृथ्वी, पहिरनेके लिये पेड़ोंकी छाल पर्याप्त रूपसे प्राप्त है तब हम धनके मदसे उन्मत्त इन्द्रियों वाले दुर्जनोंके निरादरको क्यों सहें ॥२१॥

विपुलहृदयैर्धन्यैः कैश्चिज्जगज्जनितं पुरा

विधृतमपरैर्दत्तं चान्यैर्विजित्य तृणं यथा ।

इह हि भुवनान्यन्ये धीराश्चतुर्दश भुञ्जते

कतिपयपुरस्वाम्ये पुंसां कए षमदज्वरः ॥२२॥

संसारकी महिमा कैसी विलक्षण है, देखिये इसको प्राचीन कालमें उदार हृदय वाले कुछ महापुरुषोंने अपनाया कुछ लोगों

ने उसका उपयोग किया, बहुतेरोंने इसको जीतकर तृणकी तरह औरोंको दे दिया आज भी कुछ धीर राजा महाराजा चौदहों भुवनों का पालन करते हैं, पर उनको इतने बड़े साम्राज्यके आधिपत्य का तनिक भी अभिमान न हुआ परन्तु इने-गिने ग्रामोंके स्वामित्व में मनुष्यकी यह मदोन्मत्तता कैसी ॥२२॥

त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नताः
ख्यातस्त्वं विभवैर्यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्ति नः ।
इत्थं मानद नातिदूरमुभयोरप्यावयोरन्तरं
यद्यस्मासु पराङ्मुखोऽसि वयमप्येकान्ततो निस्पृहाः ॥

यदि तूँ राजा है, इसलिये तुझे अभिमान है तो हमें भी गुरुओंकी उपासनासे प्राप्त ज्ञानके कारण तुझसे कम अभिमान नहीं है, यदि तूँ अपने ऐश्वर्यसे प्रसिद्ध है तो विरक्ततामें कवियों द्वारा हम लोगोंका भी यश दसों दिशाओंमें व्याप्त है; हे राजन्! इस प्रकार आपमें और हममें विशेष अन्तर नहीं है फिर भी यदि तूँ हम लोगोंसे मुँह फेर लेता है तो हम भी तुमसे अत्यन्त निःस्पृह रहा करते हैं ॥२३॥

अभुक्तायां यस्यां क्षणमपि न यातं नृपशतै-
र्भुवस्तस्या लाभे क इव बहुमानः क्षितिभुजाम् ।
तदंशस्याप्यंशे तदवयवलेशेऽपि पतयो
विषादे कर्तव्ये विदधति जडाः प्रत्युत मुदम् ॥२४॥

जिस पृथ्वीके स्वामित्वको पाकर उसका पूर्ण भोग भोगे बिना ही हमारे पूर्वजोंको उसे छोड़ देना पड़ा उसीके स्वामित्वको पाकर आजके राजाओंको अभिमान कैसा ? इतना ही क्यों ? अब तो पृथ्वीके अंशके भी अंशको प्राप्त कर मनुष्य अपनेको उसका पति माननेका दावा रखते हैं। बड़ा आश्चर्य है कि मूर्ख लोग जहां खेद करना चाहिये वहां भी आनन्द ही माना करते हैं ॥२४॥

मृत्पिण्डो जलरेखया वलयितः सर्वोऽप्ययं नन्वणुः
भोगीकृत्य स एव संयुगशतै राज्ञां गणैर्भुज्यते।
नो दद्युर्ददतेऽथवा किमपि ते क्षुद्रा दरिद्रा भृशं
धिग्धिक्तान्पुरुषाधमान्धनकणान्वाञ्छन्ति तेभ्योऽपिये

यह सारी पृथ्वी जलकी रेखासे घिरा हुआ मिट्टीका एक छोटा पिण्ड है, सैकड़ों राजा युद्धों द्वारा जहां-तहां उसके कुछ-कुछ अंशों पर अपना प्रभुत्व प्राप्तकर उसपर राज्य किया करते हैं। वे राजा लोग हमें कुछ देंगे या देते हैं इसके अतिरिक्त और उनसे आशा ही क्या की जा सकती है, वे तो स्वयं ही युद्धोंके कष्टसे प्राप्त मृत्पिण्डरूप राज्यके भोगनेसे क्षुद्र हुए हैं और भूमण्डलके कुछ टुकड़ों पर ही स्वामित्व प्राप्त करनेसे दरिद्र भी हैं, इस तरहके क्षुद्र और दरिद्र राजाओंसे भी जो यत्किञ्चित् धनकी इच्छा करते हैं उन अधम पुरुषोंको धिक्कार है ॥ २५ ॥

न बिटा न नटा न गायका न परद्रोहनिबद्धबुद्धयः।
नृपसद्मनि नाम के वयं कुचभारोन्नमिता न योषितः॥

न हम विट (पर स्त्रीसे प्रेम करनेवाले लम्पटी) हैं, न नट हैं, न गवैया हैं, न दूसरोंसे द्वेष रखनेवाले हैं, न तो कुचोंके भारसे झुकी हुई स्त्रियां ही हैं, फिर हमको राजसभासे क्या सम्बन्ध, राजसभामें तो वे ही लोग जाया करते हैं जो विट, नट और गायक हुआ करते हैं, निःस्पृह विद्वान् नहीं जाते ॥ २६ ॥

पुरा विद्वत्तासीदुपशमवतां क्लेशहतये
गता कालेनासौ विषयसुखसिद्ध्यै विषयिणाम् ।
इदानीं सम्प्रेक्ष्य क्षितितलभुजः शास्त्रविमुखा-
नहो कष्टं साऽपि प्रतिदिनमधोऽधः प्रविशति ॥२७॥

पूर्वकालमें विद्या विद्वानोंके क्लेशको नाश करनेके लिये हुआ करती थी, कुछ कालके अनन्तर वही विषयी पुरुषोंके विषय सुखका साधन बन बैठी, अब इस समय राजाओंको शास्त्रसे विमुख देखकर वह प्रतिदिन नीचे ही नीचे होती जा रही है, अहो, बड़े कष्ट की बात है ॥ २७ ॥

स जातः कोऽप्यासीन्मदनरिपुणा मूर्ध्नि धवलं
कपालं यस्योच्चैर्विनिहितमलङ्कारविधये ।
नृभिः प्राणत्राणप्रवणमतिभिः कैश्चिदधुना
नमद्भिः कः पुन्सामयमतुलदर्पज्वरभरः ॥२८॥

ऐसा भी कोई सफल जन्मा मनुष्य उत्पन्न हुआ था जिसके शुभ्र कपालको कामदेवके शत्रु भगवान् शंकरने अपनी शोभाके लिये मस्तकपर धारण किया था, इतनी बड़ी उपयोगिता मनुष्यके अंगकी

होने पर भी उसको तनिक भी अभिमान न था परन्तु इस समय लोग अपने तुच्छ प्राणोंकी रक्षा कर इतने अभिमान ग्रस्त हो गये हैं जिसका कोई ठिकाना नहीं। तात्पर्य यह हुआ कि मरने के बाद भी जिसका कपाल आदर पूर्वक मस्तक जैसे ऊँचे स्थान पर रक्खा जाता है उसी पुरुषका जन्म सफल है और बाकी पुरुषोंका जन्म निष्फल है ॥ २८ ॥

अर्थानामीशिषे त्वं वयमपि च गिरामीश्महे यवदर्थं
शूरस्त्वं वादिदर्पज्वरशमनविधावक्षयं पाटवं नः ।
सेवन्ते त्वां धनाढ्या मतिमलहतये मामपि श्रोतुकामा
मय्यप्यास्था न चेत्तत्वयि मम सुतरामेष राजन्गतोऽस्मि

हे राजन् ! यदि धन पर तेरा प्रभुत्व है तो साथके शब्दों पर मेरा भी प्रभुत्व है, यदि तूँ शूर है तो हम भी वादियोंके घमण्ड रूपी ज्वरको नाश करनेमें प्रवीण हैं, यदि धनी लोग आपके सेवक हैं तो बुद्धिकी मलीनताको दूर करनेके लिए शास्त्र श्रवणकी इच्छा रखनेवाले मेरे भी सेवक हैं, इस तरह हमारे और आपमें कोई अन्तर न रहने पर भी यदि हम पर तुम्हारी श्रद्धा नहीं है तो तुम पर हमारी भी श्रद्धा नहीं है, इसलिए लो हम जाते हैं ॥ २९ ॥

मानेम्लायिनिखण्डिते च वसुनि व्यर्थप्रायतेऽतिथिनि
क्षीणे बन्धुजने गते परिजने नेष्टे शनैयवौंने ।
युक्तं केवलमेतदेव सुधियां यज्जह्नु कन्यापयः
पूतग्रावगिरीन्द्रकन्दरतटोकुञ्जे निवासः क्वचित् ॥ ३० ॥

सम्मानके क्षीण होने पर, धनके नष्ट हो जाने पर, अतिथियों के विमुख चले जाने पर, वन्धु वर्गके नाश हो जाने पर, परिजनों के चले जाने पर और धीरे २ युवावस्थाके भी ढल जाने पर, बुद्धिमान पुरुषका यही कर्तव्य है वह भी जाह्नवीके जल कणोंसे पवित्र हिमालय पर्वतकी किन्हीं गुफाओं में वास करे ॥ ३० ॥

परेषां चेतांसि प्रतिदिवसमाराध्य बहुधा
प्रसादं किं नेतुं विशसि हृदयं क्लेशकलिलम् ।
प्रसन्ने त्वय्यन्तः स्वयमुदितचिन्तामणिगुणो
विमुक्तः सङ्कल्पः किमभिलषितं पुष्यति न ते ॥३१॥

अरे हृदय ! तूँ प्रतिदिन अनेकों प्रकारसे दूसरोंकी आराधना कर अत्यन्त प्रयाससे मिलने वाले अनुग्रह को प्राप्त करनेके लिए क्यों प्रवृत्त हो रहा है ? तूँ जब अन्तर्मुख होकर अपने स्थान में स्थित रहेगा तो बिना प्रयत्नके ही समस्त अभीष्ट वस्तुको देने वाले चिन्तामणि का स्वयं तेरे में उदय होगा, तो क्या उस समय वह तेरी अभिलाषाको पूर्ण न कर सकेगा ? ॥ ३१ ॥

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयं
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम् ।
शास्त्रे वादिभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद् भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां शम्भोः पदं निर्भयम्

भोगमें रोगका भय, ऊँचे कुलमें उत्पन्न होने पर उससे नीचे गिरनेका भय, धन रहने पर राजा का भय, मानमें दीनता

का भय, बल रहने पर शत्रु का भय, सौन्दर्य रहने पर वार्धक्य का भय, वेदान्तादि शास्त्र के रहने पर वाद विवाद का भय, विनय आदि गुणों के होने पर दुष्टों का भय, शरीर रहने पर यम का भय, कहने का तात्पर्य यह कि इस संसार में सभी पदार्थ भय से व्याप्त है केवल एकमात्र भगवान् शिवजी का चरण ही निर्भय का स्थान है ॥ ३२ ॥

अमीषां प्राणानां तुलितबिसिनीपत्रपयसां
कृते किं नास्माभिर्विगलितविवेकैर्व्यवसितम् ।
यदाढ्यानामग्रे द्रविणमद निः शङ्कमनसां
कृतं वीतव्रीडैर्निजगुणकथापातकमपि ॥३३॥

कमलिनीके पत्तों पर स्थित जलबिन्दु की तरह अतिभंगुर (तुरत नाश होने वाले) इस प्राणों के लिये कर्तव्याकर्तव्य का तनिक भी विचार न करते हुए हम लोगों ने क्या क्या नहीं कर डाला, जब कि धन के मद से उन्मत्त धनिकों के आगे निर्लज्ज होकर अपने मुँह से अपनी बड़ाई के रूप पातक को करने में भी नहीं हटे ॥ ३३ ॥

सा रम्या नगरी महान्स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत् ।
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः
उद्रिक्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः ।३४।

वह पहले देखी गई मनोहर नगरी, सर्वगुणसम्पन्न वह राजा, वह लोकोत्तर उसके अधीन रहनेवाले राजाओं का चक्र, उसके आस पास बैठनेवाले वे पण्डितगण, परम सुन्दरी स्त्रियों का वह वर्ग, अत्यन्त प्रतापी राजपुत्रोंका वह समूह, अति प्रवीण वे बन्दी और उस समय की आदर्श चरित वे कथाएँ आदि सब बातें जिस काल के वश होकर नाम शेष हो गईं उस काल को हम नमस्कार करते हैं ॥ २४ ॥

वयं येभ्यो जाताश्चिरपरिगता एव खलु ते
समं यैः संवृद्धाः स्मृतिविषयतां तेऽपि गमिताः ।
इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासन्नपतना
गतास्तुल्यावस्थां सिकतिलनदीतीरतरुभिः ॥२५॥

हम जिनसे उत्पन्न हुए उन माता पिताओंको गये बहुत दिन हो गये, जिनके साथ बढ़े थे वे भी आज नाम शेष हो गये, अब इस समय हम लोग नदी के किनारे बालू में उत्पन्न वृक्षों की तरह दिन-दिन मृत्यु के निकट पहुँचते जा रहे हैं ॥ २५ ॥

यत्रानेकः क्वचिदपि गृहे तत्र तिष्ठत्यथैको
यत्राप्येकस्तदनु बहवस्तत्र नैकोऽपि चान्ते ।
इत्थं चेमौ रजनिदिवसौ दोलयन्द्वाविवाक्षौ
कालः काल्या भुवनफलके क्रीडति प्राणशारैः ॥२६॥

जहां अनेक थे, आज वहां एक दिखाई दे रहा है, जहां एक

था वहां अनेक दिखाई दे रहे हैं और अन्त में एक भी नहीं रह जाता है. इस तरह रात और दिन रूप दो पासों को फेंकता हुआ यह कालपुरुष अपनी स्त्री काली के साथ प्राणों का पासा बनाकर संसार रूपी चौपड़ खेल रहा है ॥ ३६ ॥

तपस्यन्तः सन्तः किमधिनिवसामः सुरनदीं
गुणोदारान्दारानुत परिचरामः सविनयम् ।
पिबामः शास्त्रौघानुत विविधकाव्यामृतरसान्
न विद्मः किं कुर्मः कतिपयनिमेषायुषि जने ॥३७॥

हम नहीं जानते कि क्षणिक जीवन में इस शरीर से हम क्या करें—तपस्या करते हुए गंगाजी के तट पर निवास करें अथवा गुणों से उदार अपनी स्त्री की सविनय सेवा किया करें, किंवा वेदान्तादि शास्त्रों का श्रवण करें या काव्यरूपी अमृत का पान करें ॥ ३७ ॥

गङ्गातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य ।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशङ्काः
कण्डूयन्ते जरठहरिणाः स्वाङ्गमङ्गे मदीये ॥३८॥

क्या मेरे वे अच्छे दिन आवेंगे जब मैं गंगाके तट पर हिमालय पर्वतकी चट्टान पर पद्मासन लगा कर बैठा रहूँ और ब्रह्म की चिन्ता करते २ योग निद्राको प्राप्त हो जाऊँ? और उस समय निर्भय होकर बूढ़े हरिण अपनी खुजलाहट मिटानेके लिये

हमारे शरीरमें अपने शरीरको रगड़नेके लिये आया करें ॥ ३८ ॥

स्फुरत्स्फारज्योत्स्नाधवलिततले क्वापि पुलिने
सुखासीनाः शान्तध्वनिषु रजनीषु द्युसरितः ।
भवाभोगोद्विग्नाः शिव शिव शिवेत्यादिवचसा
कदा स्यामानन्दोद्गतबहुलबाष्पाप्लुतदृशः ॥३९॥

सुनसान चन्द्रिका की रात्रिमें गंगाजी के बालुकामय तट पर सुखपूर्वक बैठे हम सांसारिक प्रपञ्च से उद्विग्न होकर शिव शिव शिव कहते हुए अपनी आंखों के आनन्द के आंसुओं से कब परिपूर्ण करेंगे ॥ ३९ ॥

महादेवो देवः सरिदपि च सैषा सुरसरिद्
गुहा एवागारं वसनमपि ता एव हरितः ।
सुहृद्वा कालोऽयं व्रतमिदमदैन्यव्रतमिदं
कियद्वा वक्ष्यामो वटविटप एवास्तु दयिता ॥४०॥

महादेव ही मेरे एकमात्र आराध्य देव हैं, गंगा ही एकमात्र नदी है, पर्वतीय कन्दरा ही घर हैं, दिशायें ही वस्त्र हैं, काल ही मित्र है, किसी के सामने दीन न होना यह एकमात्र व्रत है, कहां तक कहें वट वृक्ष ही दयिता है। तात्पर्य यह कि विरक्त पुरुष की जीवन यात्रा के लिये ये ही पदार्थ पर्याप्त हैं ॥ ४० ॥

आशा नाम नदी मनोरथ जला तृष्णातरङ्गाकुला
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी ।

मोहावर्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तङ्गचिन्तातटी
तस्याःपारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः ४१

आशा नाम की एक नदी है मनोरथरूपी जल जिसमें भरा है, तृष्णा जिसकी लहरें हैं, राग द्वेष जिसके मगर और घड़ियाल हैं, अपने अनुकूल और प्रतिकूल होनेवाले पदार्थों के निर्णय करने की विचार धारा रूपी वितर्क ही जिस पर पक्षी के रूप में विचर रही है, जिसका प्रवाह धैर्य रूपी वृक्ष को गिरा रहा है, मोह रूप भँवर से जो अत्यन्त खतरनाक और अति कठिन है और बड़ी बड़ी चिन्ताएँ जिसके तट हैं, ऐसी इस नदी के पार गये हुए शुद्धान्तःकरण वाले बड़े बड़े योगिराज ही आनन्द को प्राप्त होते हैं ॥४१॥

आसंसारं त्रिभुवनमिदं चिन्वतां तात तादृ-
ङ्नैवास्माकं नयनपदवीं श्रोत्रवर्त्मागतो वा ।
योऽयं धत्ते विषयकरिणीगाढगूढाभिमान-
क्षीबस्यान्तःकरणकरिणः संयमानायलीलाम् ॥४२॥

हे पिता! सृष्टि के आरम्भ से मैंने सारा संसार छान डाला पर न ऐसा कोई सुनने में आया न देखने में आया जो विषयरूपी हथिनी में अति रूढ़ और गूढ़ अभिमान से उन्मत्त अन्तःकरणरूपी हाथीको संयमरूपी रस्सीमें रोक ले ॥४२॥

विद्या नाधिगता कलङ्करहिता वित्तं च नोपार्जितं
शुश्रूषापि समाहितेन मनसा पित्रोर्न सम्पादिता ।

आलोलायतलोचना युवतयः स्वप्नेऽपि नालिङ्गिताः
कालोऽयं परपिण्डलोलुपतया काकैरिव प्रेयते ॥४३॥

न तो हमने निष्कलंक विद्या पढ़ी, न धनही कमाया, न तो माता-पिताकी सेवाही की, और न स्वप्नमें भी चञ्चल लोचना सुन्दरी का आलिंगन किया। हमने तो कौओंकी नाईं दूसरों द्वारा दिये गये पिण्ड की लोलुपता में ही समय बिता दिया ॥ ४३ ॥

वितीर्णे सर्वस्वे तरुणकरुणापूर्णहृदयाः
स्मरन्तः संसारे विगुणापरिणामां विधिगतिम् ।
वय पुण्यारण्ये परिणतशरच्चन्द्रकिरणा-
स्त्रियामा नेष्यामो हरचरणचिन्तैकशरणाः ॥४४॥

अपना सर्वस्व याचकोंको बांटकर करुणापूर्ण हृदय होकर और संसारमें विषम परिणामवाली दैवगतिको स्मरण करते हुए हम पवित्र तपोवन में भगवान् शंकर के चरणों की शरण लेकर शरदृतु की चांदनी की रात कब व्यतीत करेंगे ॥ ४४ ॥

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः
सम इव परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।
स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥४५॥

हे राजन् ! यहां हम पेड़की छालोंसे सन्तुष्ट हैं और तू रेशमी

वस्त्रों से, हमारे और तुम्हारे सन्तोष में कोई अन्तर नहीं है; संतोष दोनों का एक ही समान है। परन्तु जिसको धनलिप्सा बड़ी है वही पुरुष दरिद्र हैं, क्योंकि मन के संतुष्ट होने पर न कोई धनी है न कोई दरिद्र है ॥ ४५ ॥

यदेतत्स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं
सहार्यैः संवासः श्रुतमुपशमैकव्रतफलम्।
मनो मन्दस्पन्दं बहिरपि चिरस्यापि विमृश-
न्नजाने कस्यैषा परिणतिरुदारस्य तपसः ॥४६॥

स्वच्छन्द बिहार करना, बिना दीनता के भोजन मिलना, सत्पुरुषों की संगति होना, मानसिक शान्ति को देनेवाले शास्त्रों का श्रवण करना, सांसारिक भावों में मन की प्रवृत्ति का मन्द होना आदि का चिरकाल तक विचार करने पर भी नहीं मालूम कि यह सब किसी बड़ी तपस्या का फल है ॥ ४६ ॥

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं
विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकमचपलं तल्पमस्वल्पमुर्वी।
येषां निःसङ्गताङ्गीकरणपरिणतस्वात्मसंतोषिणस्ते
धन्याःसंन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकरा कर्मनिर्मूलयन्ति४७

वे धन्य हैं जिनका हाथ ही पवित्र पात्र है, भ्रमण द्वारा प्राप्त भिक्षा ही अक्षय भोजन है, लम्बी-चौड़ी दशो दिशायें ही जिनका वस्त्र है, पृथ्वी ही जिनकी बड़ी शय्या है, अन्तःकरण के अनासक्ति

योग से जो सदा सन्तुष्ट रहा करते हैं और दीनता के भावों को त्याग कर जन्म परम्परा से प्राप्त कर्मों का नाश करते हैं ॥ ४७ ॥

दुराराध्याश्चामी तुरगचलचित्ताः क्षितिभुजो
वयं तु स्थूलेच्छा महति च पदे बद्धमनसः ।
जरा देहं मृत्युर्हरति दयितं जीवितमिदं
सखे नान्यच्छ्रेयो जगति विदुषोऽन्यत्र तपसः ॥४८॥

घोड़ों के समान चंचल चित्त वाले राजाओं की आराधना करना कठिन काम नहीं है, परन्तु हमारी इच्छायें बड़ी हैं और ऊँचे से ऊँचे पदों की प्राप्ति में सदा लालसा लगी रहा करती है, वृद्धावस्था शरीर का नाश करती है और मृत्यु प्रिय प्राण का हरण करती है। इसलिये, हे मित्र! इस संसार में विवेकी पुरुष के लिये तप को छोड़कर और दूसरा मार्ग कल्याणकारी नहीं है ॥ ४८ ॥

भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चला
आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलीनाम्बुवद्भंगुरम् ।
लोला यौवनलालसास्तनुभृतामित्याकलय्य द्रुतं
योगे धैर्यसमाधिसिद्धिसुलभे बुद्धिं विदध्वं बुधाः ४९

सांसारिक भोग मेघों में चमकती बिजली के समान अस्थिर हैं, आयुष्य वायु द्वारा तितर-बितर किये गये पानी बरसानेवाले मेघों की नाईं क्षणभंगुर है, जवानी के उमंग की तरंगें भी अस्थायी

हैं। इसलिये हे विद्वानों! धैर्यपूर्वक को गयी समाधि द्वारा सुलभ योग में मन को लगाइये ॥ ४६ ॥

पुण्ये ग्रामे वने वा महति सितपटच्छन्नपालिं कपालिं
ह्यादाय न्यायगर्भद्विजहुतहुतभुग्धूमधूम्रोपकण्ठम्।
द्वारं द्वारं प्रविष्टो वरमुदरदरीपूरणाय क्षुधार्तो
मानी प्राणैः स धन्यो न पुनरनुदिनं तुल्यकुल्येषु दीनः

वह प्राणी धन्य है, जो भूखसे व्याकुल होकर अपने उदररूपी कन्दराको भरनेके लिये सफेद कपड़ोंसे ढके ठीकरेको हाथमें लेकर पवित्र ग्राममें अथवा वनमें उनके द्वार पर भीख मांगना अच्छा समझता है, जिनके द्वार ब्राह्मणों द्वारा सतत किये गये यज्ञके धूयें से काले पड़ गये हैं, परन्तु अपने समान कुलवालोंके दरवाजों पर दीन होकर प्रतिदिन भीख मांगना अच्छा नहीं है ॥ ५० ॥

चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथ किं तापसः
किंवा तत्वविवेकपेशलमतिर्योगीश्वरा कोऽपि किम्।
इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैः सम्भाष्यमाणा जनै-
र्नक्रुद्धाःपथिनैव तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः।५१।

क्या यह चाण्डाल है अथवा ब्राह्मण है, शूद्र है किंवा तपस्वी है? अथवा तत्त्वज्ञान में चतुर कोई योगीश्वर हैं? इस तरह अनेक प्रकार के संशय से पूर्ण तर्क वितर्क द्वारा मार्ग में छेड़ छाड़ किये जाने पर भी न तो चाण्डाल कहने पर क्रुद्ध हुए न तो ब्राह्मण

कहने पर प्रसन्न हुए योगी बिना उत्तर दिये चुपचाप चलते ही जाते हैं। ब्रह्मनिष्ठ योगी न तो प्रिय वस्तु प्राप्त कर प्रसन्न होते हैं, न तो अप्रिय वस्तु से अप्रसन्न ही होते हैं ॥ ५१ ॥

विरमत बुधा योषित्सङ्गात्सुखात्क्षणभंगुरा-
त्कुरुत करुणामैत्रीप्रज्ञावधूजनसंगमम् ।
न खलु नरके हाराक्रान्तं घनस्तनमण्डलं
शरणमथवा श्रोणीबिम्बं रणन्मणिमेखलम् ५२

हे विद्वानों ! क्षण मात्र के लिये सुख देनेवाले स्त्री समागम से अपने मन हटा लो। करुणा (दुखियों में दया करना) मैत्री (पुण्यवानों में मैत्री) और प्रज्ञारूपी स्त्रियों से संगम करो। क्योंकि अन्त में नरक में जाने पर मुक्ताहार से सुशोभित पुष्ट स्तन मण्डल अथवा शब्दायमान मणिमेखला (करधनी) वाला नितम्ब मण्डल रक्षा नहीं कर सकेगा ॥ ५२ ॥

मातर्लक्ष्मि भजस्व कञ्चिदपरं मत्कांक्षिणा मा स्म भू-
र्भोगेषु स्पृहयालवो नहि वयं का निःस्पृहाणीमसि ।
सद्यः स्यूतपलाशपत्रपुटिकापात्रे पवित्रीकृतै-
र्भिक्षासक्तुभिरेव सम्प्रति वयं वृत्तिं समीहामहे ॥५३॥

हे माते लक्ष्मी ! तू अब किसी और को भज, मेरी आशा छोड़ दे। अब विषय भोग में मेरी तनिक भी इच्छा नहीं है, अब

तो हम निःस्पृही हो गये हैं, हमारे सामने तूं तुच्छ सी है। क्योंकि अब हम पलास के हरे-हरे पत्तों के दोने में भिक्षा के सत्तू से ही अपना जीवन बिताना चाहते हैं ॥ ५३ ॥

यूयं वयं वयं यूयमित्यासीन्मतिरावयोः ।
किं जातमधुना मित्र यूयं यूयं वयं वयम् ॥५४॥

हे सखे ! हम लोगों की पहले धारणा थी कि जो तुम हो वह हम हैं और जो हम हैं वह तुम हो, हम तुम दोनों एक ही हैं। परन्तु अब क्या हो गया मालूम नहीं कि तुम तुम ही रह गये और हम हम ही रह गये अर्थात् तुम विषयाभिलाषी हो और हम बिरक्त हैं, अब तुम्हारे हमारे में पहले की तरह समानता नहीं रही ॥ ५४ ॥

रम्यं हर्म्यतलं न किं वसयते श्रव्यं न गेयादिकं
किं वा प्राणसमासमागमसुखं नैवाधिकं प्रीयते ।
किंतु भ्रान्तपतत्पतङ्गपवनव्यालोलदीपांकुर-
च्छायाचञ्चलमाकलय्य सकलं सन्तो वनान्तं गताः ५५

क्या सन्त महात्माओं के रहने के लिये बड़े-बड़े राजप्रासाद न थे ? क्या उनके सुनने के लिये अच्छे-अच्छे संगीत न थे ? क्या प्राण के समान अत्यन्त प्रिय स्त्रियों का समागम सुख उनको अधिक प्रीतिकर न था ? कि उन्होंने इस संसार को गिरते पतंग

की हवा से हिली हुई दीपक की छाया के समान चंचल जानकर निर्जन वन में चला जाना ही श्रेयस्कर समझा ॥ ५५ ॥

किं कन्दाःकन्दरेभ्यःप्रलयमुपगता निर्झरा वा गिरिभ्यः
प्रध्वस्ता वा तरुभ्यःसरसफलभृतो वल्कलिन्यश्च शाखाः
वीक्ष्यन्ते यन्मुखानि प्रसभमपगतप्रश्रयाणां खलानां
दुःखोपात्ताल्पवित्तस्मयपवनवशानर्तितभ्रूलतानि।५६।

कन्दराओं में से क्षुधा को दूर करनेवाले कन्दमूलादि पदार्थ और तृषा को दूर करनेवाले पहाड़ी झरने क्या नष्ट हो गये ? अथवा सरस फल और वल्कल से पूर्ण वृक्ष की शाखाएँ विनष्ट हो गईं कि अत्यन्त दुर्विनीत खलों के मुखों को याचक लोग देखा करते हैं, अर्थात् उनका आश्रय लेना पड़ता है जो कि बड़े दुःख से धन के गर्व से चंचल हो रहे हैं ॥ ५६ ॥

गङ्गातरङ्गकणशीकरशीतलानि
विद्याधराध्युषितचारुशिलातलानि ।
स्थानानि किं हिमवतः प्रलयं गतानि
यत्सावमानपरपिण्डरता मनुष्याः ॥५७॥

हिमालयके वे प्रदेश जो गंगाके तरंगों द्वारा ठंढे जलकणों से शीतल थे और जहां के शिलातलों पर विद्याधर बैठे रहा करते

थे। क्या आज नष्ट हो गये कि मनुष्य अपमान सहन करने पर भी औरों के दिये हुये ग्रास में रत रहा करते हैं॥ ५७॥

यदा मेरुः श्रीमान्निपतति युगान्ताग्निनिहतः
समुद्राः शुष्यन्ति प्रचुरमकरग्राहनिलयाः।
धरा गच्छत्यन्तं धरणिधरपादैरपि धृता
शरीरे का वार्त्ता करिकलभकर्णाग्रचपले॥५८॥

जब श्रीमान् सुमेरु पर्वत प्रलय-कालीन अग्नि से निहत होकर धराशायी हो जाता है, बड़े २ ग्राहों का स्थान समुद्र भी सूख जाता है, पर्वतों से धारण की गई पृथ्वी भी लय को प्राप्त हो जाती है, तब हाथी के कानों के अग्र भाग के समान अति चञ्चल इस शरीर का भरोसा ही क्या है॥ ५८॥

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः॥ ५६॥

हे शम्भो! मैं कब अकेला, कामना रहित, शान्त, करपात्री, दिगम्बर और भवबन्धन को निर्मूलन करनेवाला होऊँगा॥ ५६॥

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्।

सम्मानिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पस्थितास्तनुभृतां तनवस्ततः किम् ॥६०॥

इच्छानुसार समस्त मनोरथोंको देनेवाली लक्ष्मी भी यदि प्राप्त हो जाय तो उससे क्या ? शत्रुओंको पददलित किया तो उससे क्या ? अपने प्रेमीजनको धन आदि से सम्मानित किया तो उससे क्या और यदि कल्प तक जीवित भी रहे तो उससे क्या ? अर्थात् वैराग्य यदि न हुआ तो यह सब व्यर्थ है ॥ ६० ॥

जीर्णा कन्था ततः किं सितममलपटं पट्टसूत्रं ततः किं
मेका भार्या ततः किं बहुहयकरिभिः कोटिसंख्यास्ततः किं ।
भक्तं भुक्तं ततः किं कदशनमथवा वासरान्ते ततः किं
व्यक्तं ज्योतिर्नवान्तर्मथितभवभयं वैभवं वा ततः किम् ।

यदि कथरी जीर्ण भी हो गयी तो उससे क्या ? सफेद और रेशमी वस्त्र को धारण किया तो भी उससे क्या ? स्त्री एकही हो तो क्या ? अथवा अनेक हाथी घोड़ों आदि ऐश्वर्य से युक्त करोड़ों हो तो क्या ? मध्याह्न में अच्छा खानेको मिले तो क्या ? सायंकाल में खराब खानेको मिले तो क्या ? तात्पर्य यह हुआ कि—यदि भवबाधाको दूर करने वाले ब्रह्म तेजको हृदय में धारण न किया तो ये सब व्यर्थ हैं ॥ ६१ ॥

भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं हृदिस्थं
 स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः ।
संसर्गदोषरहिता विजना वनान्ता
 वैराग्यमस्ति किमतः परमर्थनीयम् ॥६२॥

भगवान् शंकर में भक्ति हो, संसार में जन्म लेने और मरने का हृदय में भय न होता हो, अपने भाई-बन्धु और रिस्तेदारोंमें प्रेम न हो, संसर्ग दोषसे रहित निर्जन बनमें निवास हो, मनमें काम जन्य विकार न हो तो इससे बढ़कर प्रार्थनीय और दूसरा वैराग्यही कौन है ॥ ६२ ॥

तस्मादनन्तमजरं परमं विकासि
 तद् ब्रह्म चिन्तय किमेभिरसद्विकल्पैः ।
यस्यानुषङ्गिण इमे भुवनाधिपत्य-
 भोगादयः कृपणलोकमता भवन्ति ॥६३॥

इसलिये अनन्त, वार्धक्य आदि अवस्थात्रय से रहित, अत्यन्त देदीप्यमान परब्रह्म का चिन्तन करो, इन सब मिथ्याभूत पदार्थों की चिन्ता से क्या लाभ? ब्रह्मके ही आश्रय में अधीन रहनेवाले भुवना-धिपत्य, भोग-विलास, आदि उनकेही योग्य हुआ करते हैं जिनमें ब्रह्मविचार का प्रेम नहीं रहता ॥ ६३ ॥

पातालमाविशसि यासि नभो विलंघ्य
दिङ्मण्डलं भ्रमसि मानसचापलेन ।
भ्रान्त्यापि जातु विमलं कथमात्मनानं
तद् ब्रह्म न स्मरसि निर्वृतिमेषि येन ॥६४॥

रे मन तूँ अपने चाञ्चल्य से कभी तो पाताल में घुस जाता है कभी तो ऊँचेसे ऊँचे आकाश तकको पार कर जाता है कभी सब दिशाओं का चक्कर काट आता है जब जहां के विषय की लालसा होती है, तब वहां पहुंच जाते हो, परन्तु भ्रमसे भी कभी निर्मल और आत्म हितकारी उस परब्रह्म परमात्मा का चिन्तन नहीं करता जिससे यथार्थ सुख प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

रात्रिः सैव पुनः स एव दिवसो मत्वाऽबुधा जन्तवो
धावन्त्युद्यमिनस्तथैव निभृतप्रारब्धतत्तत्क्रियाः ।
व्यापारैः पुनरुक्तभूतविषयैरेवंविधेनाऽमुना
संसारेण कदर्थिताः कथमहो मोहान्न लज्जामहे॥६५॥

वही पूर्वानुभूत रात्रि है और वही पूर्वानुभूत दिवस है, इस बात को संसारी अच्छी तरह जानते हैं फिर भी पहले से प्रारब्ध कर्म को पूर्ण करने के लिये उन्हीं व्यापारों को करने में लीन रहा करते हैं जिनको कि वे पहले से करते आये हैं। इस प्रकार के इस संसार से निन्दा के पात्र हम अज्ञान के कारण लज्जित नहीं हो रहे हैं ॥ ६५ ॥

महो रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः ।
स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरतिवनितासङ्गमुदितः
सुखं शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ॥६६॥

वही शान्त मुनि, विशिष्ट ऐश्वर्यशाली राजा की तरह सुख पूर्वक सोया करता है, जिसकी उत्तम शय्या पृथ्वी है, भुजा ही बड़ी तकिया है, आकाश ही चन्दवा है, अनुकूल वायु ही पंखा है, चन्द्रमा ही प्रकाशमान दीपक है, और विरक्तरूपी स्त्री के संग जो सदा प्रसन्न रहा करता है ॥ ६६ ॥

त्रैलोक्याधिपतित्वमेव विरसं यस्मिन्महाशासने
तल्लब्ध्वाशनवस्त्रमानघटने भोगे रतिं मा कृथाः ।
भोगः कोऽपि स एक एव परमो नित्योदितो जृम्भते
यत्स्वादाद्विरसा भवन्ति विषयास्त्रैलोक्यराज्यादयः ६७

अरे मन ! जिस परब्रह्म के महाशासन में त्रिभुवन का भी आधिपत्य फीका मालूम पड़ता है, उस शासनको प्राप्त कर भोजन, वस्त्र और मान रूप भोग में प्रीति न कर। वही एक भोग यथार्थ भोग है जो सदा स्थायी और प्रकाशमान है, जिसके स्वाद से त्रैलोक्य के राज्य आदि भी विरस हो जाते हैं ॥ ६७ ॥

किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः
स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः ।

मुक्त्वैकं भवबन्धदुःखरचनाविध्वंसकालानलं
स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषा वणिग्वृत्तयः ॥६८॥

वेद, स्मृति, पुराण और बड़े २ शास्त्रों के पढ़ने से तथा स्वर्गरूपी कुटी में निवासरूप फलको देनेवाली क्रियाओं से क्या प्रयोजन है ? भव बन्धनरूप दुःख के विध्वंस के लिए उत्पन्न प्रलयाग्नि के समान ब्रह्मानन्दरूप पद प्रवेश को छोड़कर शेष सभी वृत्तियां व्यापार मात्र हैं अर्थात् ब्रह्मज्ञान की वृत्ति को छोड़कर इतर वृत्तियां फल की आकांक्षा से हुआ करती हैं ॥६८॥

आयुःकल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्री-
रर्थाः संकल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूराः ।
कण्ठाश्लेषोदगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतं
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोधिपारं तरीतुम् ६९

आयु जल तरंग के समान चंचल है जवानी कुछ ही दिनों के लिये रहा करती है, धन मानसिक कल्पना के समान अस्थिर है, वासना भी वर्षाकालीन विद्युद्विलास की तरह चंचल है, प्रियाओं से गले-गले मिलकर दिया हुआ आलिङ्गनरूप सुख भी चिरस्थायी नहीं है, इसलिये भव-भयरूपी समुद्र से पार होने के लिये परब्रह्म परमात्मा में मन लगाओ ॥ ६९ ॥

ब्रह्माण्डं मण्डलीमात्रं न लोभाय मनस्विनः ।
शफरीस्फुरितेनाब्धेः क्षुब्धता न तु जायते ॥७०॥

यह ब्रह्माण्ड एक बिम्ब फल की तरह है, कभी भी योगियों के मन को लुभा नहीं सकता, समुद्र शफरी (मत्स्य विशेष) के छटपटाने से क्षुब्ध नहीं होता ॥ ७० ॥

यदासीदज्ञानं स्मरतिमिरसंस्कारजनितं
तदा दृष्टं नारीमयमिदमशेषं जगदपि ।
इदानीमस्माकं पटुतरविवेकाञ्जनजुषां
समीभूता दृष्टिस्त्रिभुवनमपि ब्रह्म तनुते ॥७१॥

पहले जिस जवानी में कामदेवरूप तिमिर नाम के नेत्र रोग की व्याप्ति से विवेक नष्ट होकर सारा संसार स्त्रीमय दिखाई देता था । अब इस समय तिमिररूप नेत्र रोग को दूर करने में समर्थ तत्त्वज्ञानरूप अञ्जन को लगाने वाले हम लोगों की दृष्टि त्रिभुवन को ब्रह्ममय समझती है ॥ ७१ ॥

रम्याश्चन्द्रमरीचयस्तृणवती रम्या वनान्तस्थली
रम्यं साधुसमागमोद्भवसुखं काव्येषु रम्याः कथाः ।
कोपोपाहितबाष्पबिन्दुतरलं रम्यं प्रियाया मुखं
सर्वं रम्यमनित्यतामुपगते चित्ते न किञ्चित्पुनः ॥७२॥

चन्द्रमा की किरणें रम्य हैं, वनस्थली भी हरे-हरे घासों से सुहावनी मालूम पड़ती है, सत्संग से उत्पन्न सुख भी रम्य ही है, काव्यों की कथाएं भी रमणीय हैं, प्रणय कोप के कारण उत्पन्न आंसुओं से चञ्चल प्रिया का मुख भी सुन्दर नहीं है ऐसा नहीं,

ये सभी चीजें रम्य ही हैं, पर "संसार अनित्य है" इस ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर वह सब कुछ भी नहीं है। अर्थात् यह सारा संसार असार-सा प्रतीत होता है ॥ ७२ ॥

भिक्षाशी जनमध्यसङ्गरहितः स्वायत्तचेष्टः सदा
दानादानविरक्तमार्गनिरतः कश्चित्तपस्वी स्थितः
रथ्याकीर्णविशीर्णजीर्णवसनः सम्प्राप्तकन्थाधरो
निर्मानो निरहंकृतिः शमसुखभोगैकबद्धस्पृहः ॥७३॥

भिक्षान्न मात्र के भोजन से शरीर की रक्षा करनेवाले, जन समुदाय में आसक्ति रहित, सदा अपनी इच्छानुसार विहार निरत, त्यागने योग्य वस्तु के त्यागने में और ग्रहण करने योग्य वस्तु के ग्रहण करने में तत्पर, मार्ग में फेंके हुए फटे पुराने कपड़ों को ही उपयोग में लानेवाले कथरी का ही आसन बनाकर उस पर बैठने वाले, शान्तिरूप सुख के भोग में ही एकमात्र लय लगाये हुए अतएव मान और अहंकार रहित विरले ही कोई योगी महात्मा हुआ करते हैं ॥ ७३ ॥

मातर्मेदिनि तात मारुत सखे तेजः सुबन्धो जल
भ्रातर्व्योम निबद्ध एष भवतामन्त्यः प्रणामाञ्जलिः ।
युष्मत्सङ्गवशोपजातसुकृतोद्रेकस्फुरन्निर्मल-
ज्ञानापास्तसमस्त मोह महिमालीये परब्रह्मणि ॥७४॥

हे माता पृथ्वी ! हे पिता वायु ! हे मित्र तेज ! हे सुबन्धु जल ! और हे भाई आकाश ! यह मैं हाथ जोड़ आपके आगे प्रणाम करता हूँ आपकी संगति के कारण उत्पन्न पुण्य की अधिकता से प्रकाशमान ज्ञान द्वारा मोह महिमा को नष्ट कर आप में परब्रह्म परमात्मा में लीन होने जा रहा हूँ ॥ ७३ ॥

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृह यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखनन प्रत्युद्यमः कीदृशः ७५ ॥

जब तक यह शरीर स्वस्थ और निरोग है, जब तक इन्द्रियां अपने २ कामों में समर्थ हैं और जब तक आयुष्य का नाश नहीं होता तभी तक अपने कल्याण के निमित्त विद्वान् को प्रयत्न करना चाहिये। घर में आग लग जाने पर कूँआ खोदने का प्रयत्न करना व्यर्थ है ॥ ७५ ॥

नाभ्यस्ता भुवि वादिवृन्ददमनी विद्या विनीतोचिता
खड्गाग्रैः करिकुम्भपीठदलनैर्नाकं न नीतं यशः ।
कान्ताकोमलपल्लवाधररसः पीतो न चन्द्रोदये
तारुण्यं गतमेव निष्फलमहो शून्यालये दीपवत् ॥७६॥

न तो मैंने विरोधियों का मुख मर्दन करनेवाली विद्या ही पढ़ी न तो खड्गाग्र से हाथियों के मुख पीठ को चीर कर यश ही स्वर्ग तक पहुँचाया और न तो चन्द्रोदय के समय कान्ता के कमल अधर पल्लव के रस का ही पान किया, इस तरह मेरा तारुण्य सूने घर के दीपक की तरह व्यर्थ ही हुआ ॥ ७६ ॥

ज्ञानं सतां मानमदादिनाशन
केषाञ्चिदेतन्मदमानकारणम् ।
स्थानं विविक्तं यमिनां विमुक्तये
कामातुराणामपि कामकारणम् ॥७७॥

ज्ञान एक ऐसी चीज है, जो सज्जनों के मान मद आदि को नाश करती है और वही दुर्जन के मद और मान को बढ़ाती है, जैसे एकान्त स्थान योगी पुरुषों के मुक्ति का साधन है उसी तरह वही स्थान कामी पुरुषों के काम को बढ़ाने वाला है ॥ ७७ ॥

जीर्णा एव मनोरथाः स्वहृदये यातं जरा यौवनं
हन्ताङ्गेषु गुणाश्च वन्ध्यफलतां याता गुणज्ञैर्विना ।
किं युक्तं सहसाभ्युपैति बलवान्कालः कृतान्तोऽक्षमी ।
हाज्ञातं मदनांतकांघ्रियुगलं मुक्त्वास्तिनान्यागतिः ७८

मनोरथ हृदय के हृदय ही में जीर्ण शीर्ण हो गये, जवानी वृद्धावस्था में परिणत हो गई, गुणज्ञों के न रहने से सारे गुण

अंग में ही निष्फल हो गये, अब क्षमा न करनेवाला बलवान् कृतान्त (यम) आ रहा है, इस अवस्था में क्या करना चाहिये? अब तो भगवान शंकर के चरण युगल को छोड़कर और कोई दूसरी गति नहीं है ॥ ७८ ॥

स्नात्वा गाङ्गैः पयोभिः शुचिकुसुमफलैरर्चयित्वा विभो त्वां
ध्येये ध्यानं नियोज्य क्षितिधरकुहरग्रावपर्यङ्कमूले ।
आत्मारामः फलाशी गुरुवचनरतस्त्वत्प्रसादात्स्मरारे ।
दुःखान्मोक्ष्ये कदाहं तव चरणरतो ध्यानमार्गैकनिष्ठः ७९

हे स्मरारे! गंगाजल से स्नान कर, हे विभो! पवित्र फूलों और फलों से आपकी पूजा कर पर्वत की कन्दरा के चट्टानरूपी शय्या पर बैठे ध्यान करने योग्य आपमें अपने आपको लीन कर केवल फलाहार करता हुआ गुरुओं के बताए हुए मार्ग का अनुसरण करनेवाला ध्यान मार्ग का पथिक मैं आपकी कृपा से आपके चरणों में अनुराग रखकर इस भवसागर से कब मुक्त होऊँगा ॥७९॥

शय्या शैलशिला गृहं गिरिगुहा वस्त्रं तरूणां त्वचः
सारङ्गाः सुहृदो ननु क्षितिरुहां वृत्तिः फलैः कोमलैः ।
येषां नैर्झरमम्बुपानमुचितं रत्यै च विद्याङ्गनाः
मन्यन्ते परमेश्वराः शिरसि यैर्बद्धो न सेवाञ्जलिः ॥८०॥

हम उनको परमेश्वर समझते हैं जिन्होंने पर्वतीय शिलाको शय्या बनाया है, पर्वतीय कन्दरा जिनका गृह है। वृक्षों के फलों से जो उदर पूर्ति करते हैं, झरने के पानी से ही जिनकी तृषा निवृत्त होती है, विद्या रूपी स्त्री में ही जिनका अनुराग है और जिन्होंने कभी भी सेवा के लिये दूसरों के सामने अपना हाथ नहीं बांधा है ॥ ८० ॥

उद्यानेषु विचित्रभोजनविधिस्तीव्रातितीव्रं तपः
कौपीनावरणं सुवस्त्रमभितो भिक्षाटनं मण्डनम्।
आसन्नं मरणं च मंगलसमं यस्या समुत्पद्यते
तां काशीं परिहृत्य हन्त विबुधैरन्यत्र किं स्थीयते ८१

जहां बगीचों में भिन्न २ प्रकार के भोजन बनाकर खाना ही तीव्र तप है, जहां लंगोटी लगाना ही उत्तम वस्त्र है, भिक्षा वृत्ति ही भूषण है और जहां मृत्यु का होना मंगल के समान है, उस काशी का परित्यागकर पण्डित लोग अन्यत्र क्यों रह रहे हैं ॥८१॥

नायं ते समयो रहस्यमधुना निद्राति नाथो यदि
स्थित्वा द्रक्ष्यति कुप्यति प्रभुरिति द्वारेषु येषां वचः।
चेतस्तानपहाय याहि भवनं देवस्य विश्वेशितु-
र्निर्दौवारिकनिर्दयोक्त्यपरुषं निःसीमशर्मप्रदम्॥८२॥

रे मन ! जिनके द्वार पर द्वारपाल भिक्षुकों से यह कहते हैं कि यह समय तुमसे मिलने का नहीं है, महाप्रभु इस समय एकान्तमें सो रहे हैं, यदि उठनेके बाद बाहर आकर तुमको यहां बैठे देखेंगे तो वे क्रुद्ध हो जायेंगे। ऐसे मदोन्मत्त महाप्रभुओं के पीछे अपने जीवनको नष्ट न कर देवादिदेव विश्वेश्वरकी शरण जाओ जहां न कोई रोकनेवाला है, न कोई कठोर वचन कहने वाला है, बल्कि असीम सुख देने वाला है ॥ ८२ ॥

प्रियसख विपद्दण्डव्रातप्रतापपरम्परा-
परिचयचले चिन्ताचक्रे निधाय विधिः खलः।
मृदमिव बलात्पिण्डीकृत्य प्रगल्भकुलालवद्-
भ्रमयति मनो नो जानीमः किमत्र विधास्यति ८३

हे प्रिय मित्र ! यह शठ विधाता, चतुर कोहार की तरह बिपत्तिरूपी दण्ड के मार की परंपरा से अत्यन्त चंचल चिन्तारूपी चक्र पर मिट्टी के पिण्डकी तरह मेरे मनको घुमाता रहता है, हम नहीं जानते कि वह इससे क्या बनाने चाहता है ॥ ८३ ॥

महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे
जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि।
तयोर्न भेदप्रतिपत्तिरस्ति मे
तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे ॥८४॥

यद्यपि भगवान् शंकर में और विष्णु जनार्दन में कोई भेद मालूम नहीं पड़ रहा है, फिर भी जिनके शिर पर तरुण चन्द्रमा विराजमान हैं उन्हीं में हमारी भक्ति है ॥ ८४ ॥

रे कंदर्प करं कदर्थयसि किं कोदण्डटङ्कारवै
रे रे कोकिल कोमलैः कलरवैः किं त्वं वृथा जल्पसि ।
मुग्धे स्निग्धविदग्धक्षेपमधुरैर्लोलैः कटाक्षैरलं
चेतश्चुम्बितचन्द्रचूडचरणध्यानामृते वर्तते ॥ ८५ ॥

हे कामदेव ! धनुष के टंकारों से अपने हाथ को क्यों कष्ट दे रहा है, अरी कोयल ! तूँ अपनी कोमल वाणी से क्यों व्यथ बड़बड़ा रही है, अरी सुन्दरी ! अपने सुन्दर, चतुर और चंचल कटाक्षोंको अब न फेंक, हटा ले, क्योंकि मेरा मन अब चन्द्रशेखर भगवान् के चरणों के ध्यानरूपी अमृत में मग्न है ॥ ८५ ॥

कौपीनं शतखण्डजर्ज्जरतरं कन्था पुनस्तादृशी
नैश्चिन्त्यं सुखसाध्यभैक्ष्यमशनं निद्राश्मशाने वने ।
मित्रामित्रसमानतातिविमला चिन्ताऽथ शून्यालये
ध्वस्ताशेषमदप्रमादमुदितोयोगी सुखं तिष्ठति ॥८६॥

जिनका कौपीन (लंगोटी) जीर्ण होकर टुकड़े टुकड़े हो गया है और कथरी भी इसी तरह की हो गई है और जो स्वयं निश्चिन्त है, भोजन के लिए भिक्षान्न जिनको सुख से प्राप्त है,

जिसकी निद्रा श्मशान में अथवा वनमें हुआ करती है, शत्रु और मित्र में जिसका समान भाव है, अत्यन्त एकान्त स्थान में जिनकी समाधि लगा करती है, और मद मोह आदि सभी दोष जिसके नष्ट हो चुके हैं, ऐसे योगी इस संसार में सुख पूर्वक रह सकते हैं ॥ ८६ ॥

भोगा भंगुरवृत्तयो वहुविधास्तैरेव चायं भव-
स्तत्कस्येह कृतं परिभ्रमत रे लोकाः कृतं चेष्टितैः ।
आशापाशशतोपशान्तिविशदं चेतः समाधीयतां
कामोच्छेत्तृहरे स्वधामनि यदि श्रद्धेयमस्मद्वचः ८७॥

हे मनुष्यों ! इस संसार में जो नाना प्रकार के क्षणिक आदि सुख देनेवाले भोग हैं, वे ही जन्म-मरण के कारण हैं, ऐसी बातको जानते हुए भी आप यहां किसके लिये भ्रमण कर रहे हो, ऐसे क्षणिक भोग के लिये व्यापार करना व्यर्थ है, सैकड़ों प्रकार के आशा पाशको तोड़कर निर्मल चित्त होकर काम नाशक भगवान् शंकर में श्रद्धा पूर्वक अपने मन को लगाओ ॥ ८७ ॥

धन्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योतिः परं ध्यायता-
मानन्दाश्रु जलं पिवन्ति शकुना निःशङ्कमङ्केशयाः ।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट-
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परं क्षीयते ॥८८॥

वे धन्य हैं जो पर्वतीय कन्दराओं में निवास करते हैं और परब्रह्म की ज्योति का ध्यान करते हैं, कि जिनके आनन्द जनित आंसुओं को पक्षीगण उनके ही गोद में बैठकर निःशंक पान किया करते हैं, मनोरथ से बनी हुई बावली के तट के क्रीडोद्यान में विलास करनेवाले हमलोगों की आयु तो योंही क्षीण होती जा रही है ॥ ८८ ॥

आक्रान्तं मरणेन जन्म जरसा विद्युच्चलं यौवनं
संतोषो धनलिप्सया शमसुखं प्रौढाङ्गनाविभ्रमैः। ।
लोकैर्मत्सरिभिर्गुणा वनभुवो व्यालैर्नृपा दुर्जनै-
रस्थैर्येण विभूतयोऽप्युपहता ग्रस्तं न किं केनवा ८९॥

जन्म मृत्यु के विद्युत् के समान अस्थिर यौवन वार्धक्य से संतोष धन की लिप्सा से, शान्तिसुख तरुग युवतियों के विलासों से, गुग डाह करनेवाले दुष्टजनों से, वनसर्पों से, राजा दुर्जनों से, ऐश्वर्य अस्थिरता से आक्रान्त है, किससे कौन आक्रान्त नहीं है, अर्थात् संसार उपादेय सभी पदार्थ किसी न किसी से आक्रान्त हैं इसलिये जो किसी से आक्रान्त नहीं हैं. उस ब्रह्म की आराधना करो ॥ ८९ ॥

आधिव्याधिशतैर्जनस्य विविधैरारोग्यमुन्मूल्यते
लक्ष्मीर्यत्र पतन्ति तत्र विवृतद्वारा इव व्यापदः ।

जातं जातमवश्यमाशु विवशं मृत्युः करोत्यात्मसा-
त्तत्किं नाम निरंकुशेन विधिना यन्निर्मितं सुस्थितम् ६०

अनेक प्रकार की मानसिक चिन्तायें तथा शारीरिक व्याधियां पुरुष के स्वास्थ्य को नष्ट कर देती हैं, जहां लक्ष्मी का वास रहता हैं, वहां आपत्तियों की भी भरमार रहा करती हैं, जो उत्पन्न होता है मृत्यु उनको अवश्य ही अपने वश कर लेती हैं, इस परिस्थिति में कौन-सी वस्तु है, जिसको विधाता ने स्थिर बनाया है ॥६०॥

आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धं गतं
तस्यार्द्धस्य परस्य चार्द्धमपरं बालत्व वृद्धत्वयोः ।
शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते
जीवे वारितरङ्गचञ्चलतरे सौख्यं कुतःप्राणिनाम् ।६१।

मनुष्य की पूर्ण आयु एक सौ वर्ष की है, उसमें से आधी आयु ५० वर्ष रात्रि में सोकर बिता दी, बाकी बचे ५० में से २५ वर्ष लड़कपन और बुढ़ापे में बीत गये, इससे बचे २५ वर्ष रोग, पुत्रकलत्र आदि का वियोग आदि दुःख में तथा अपनी जीविका के लिये धनी लोगों की सेवा आदि में बीत जाता है, तो अब जल तरङ्ग के समान चंचल इस जीवन में प्राणी को सुख कैसे मिल सकता है ? ॥ ६१ ॥

गंगातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य ।

किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशंकाः
कण्डूयन्ते जरठहरिणाः स्वाङ्गमङ्गे मदीये ॥९२॥

क्या वे दिन हमारे आवेंगे जब कि पतितपावनी भगवती भागीरथी के तटपर हिमालय पर्वत की चट्टान पर पद्मासन से बैठे हुए मेरे शरीर में वृद्ध मृग निःशंक होकर शरीर की खुजलाहट को अपनी रगड़ से दूर करेंगे ॥ ९२ ॥

फलमलमशनाय स्वादुपानाय तोयं
क्षितिरपि शयनार्थं वाससे वल्कलञ्च
नवधनमधुपानभ्रान्तसर्वेन्द्रियाणा
मविनयमनुमन्तुं नोत्सहे दुर्जनानाम् ॥९३॥

जब कि भोजन के लिये फल, पीने के लिये पानी, सोने के लिये पृथ्वी, पहनने के लिये पेड़ की छाल पर्याप्त हैं, तब हम धन के मद से उन्मत्त इन्द्रियों वाले दुर्जनों के अविनय को क्यों सहें ॥ ९३ ॥

कृच्छ्रेणामेध्यमध्ये नियमिततनुभिः स्थीयते गर्भवासे
कान्ताविश्लेषदुःखव्यतिकरविषमे यौवने चोपभोगः ।
नारीणामप्यवज्ञाविलसितनियतं वृद्धभावोऽप्यसाधुः
संसारेरेमनुष्यावदत यदि सुखंस्वल्पमप्यस्तिकिञ्चित् ९४

गर्भवास में अपने शरीर को संकुचित कर अपवित्र मलमूत्र में किसी तरह से रहना पड़ता है, यौवन में विषय सुख प्रिया के वियोग दुःख से अत्यन्त कष्टप्रद है, वृद्धावस्था भी इन्द्रियों के शिथिल हो जाने के कारण परिहास का कारण हो जाती है, तो हे मनुष्यों! आप ही कहो, क्या इस संसार में तनिक भी सुख है? ॥ ९४ ॥

अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः ।
सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥९५॥

दरिद्र, संयमी, शान्त और शत्रु मित्र में एक समान विचार रखनेवाले, सदा संतोषी पुरुष के लिये सारी दिशायें आनन्द देने वाली हैं ॥ ९५ ॥

चला लक्ष्मीश्चलाः प्राणाश्चलं जीवितयौवनम् ॥
चलाचले च संसारे धर्म एकोहि निश्चलः ॥९६॥

लक्ष्मी चंचल है, प्राण चंचल है, जीवन और यौवन दोनों ही चंचल हैं, इस तरह चल और अचल संसार में एकमात्र धर्म ही निश्चल है ॥ ९६ ॥

भिक्षा कामदुधा धेनुः कन्था शीतनिवारिणी ।
अचलातु शिवे भक्तिर्विभवैः किम्प्रयोजनम् ॥९७॥

जब भिक्षा ही कामधेनु है, कथरी ही जाड़ा मिटानेवाली है, शिव में ही अचल भक्ति है तो फिर ऐश्वर्य की आवश्यकता ही क्या है? ॥ ९७ ॥

कदा संसार जालान्तर्बद्धं त्रिगुणरज्जुभिः ।
आत्मानं मोचयिष्यामि शिवभक्तिशलाकया ॥९८

भवजाल के भीतर त्रिगुणमयी रज्जु से बँधी आत्माको शिव भक्ति रूप शलाका से मैं कब छुड़ा सकूँगा ॥ ९८ ॥

चला विभूतिः क्षणभंगि यौवनं
कृतान्तदन्तान्तरवर्ति जीवितम् ।
तथाप्यवज्ञा परलोकसाधने
नृणामहो विस्मयकारि चेष्टितम् ॥९९॥

ऐश्वर्य चंचल है, यौवन क्षणिक है, मनुष्य जीवन यम के दांतों के मध्य में है, फिर भी मनुष्य मात्र परलोक प्राप्ति के साध में उपेक्षा करता जा रहा है, अहो मनुष्यों का यह व्यापा कितना आश्चर्यकारी है ॥ ९९ ॥

पृथिवी दह्यते यत्र मेरुश्चापि विशीर्यते ।
शुष्यत्यम्भोनिधिजलं शरीरे तत्र का कथा ॥१००॥

जिस विधाता की सृष्टि में पृथ्वी जलकर खाक हो जाती है, सुमेरु पर्वत भी टुकड़े-टुकड़े हो जाता है, समुद्र भी सूख जाता है वहां शरीर की बात ही क्या है ? भर्तृहरिशतकत्रयं समाप्तम्



ठाकुरप्रसाद एण्ड सन्स बुकसेलर,
राजादरवाजा, दुकान—कचौड़ीगली, वाराणसी ।

मुद्रक—ठाकुरप्रसाद, बम्बई प्रेस, राजादरवाजा, वाराणसी ।